❖ श्री राम उवाच–10

# करें तीर्थ की परिक्रमा

❖ प्रवचनकार :

आचार्य श्री रामलालजी म.सा.

❖ प्रथम संस्करण : अक्टूबर, 2008, 3100 प्रतियाँ

❖ मूल्य : 40/-

❖ अर्थ–सहयोगी :

श्री रतनलाल मुकेशकुमार राकेशकुमार रांका

चैन्नई / सारोठ

❖ प्रकाशक :

श्री अ. भा. साधुमार्गी जैन संघ

समता भवन, रामपुरिया मार्ग, बीकानेर

दूरभाष 0151–2544867, 3292177, 2203150 (Fax)

❖ आवरण सज्जा व मुद्रक :

तिलोक प्रिंटिंग प्रेस, बीकानेर

दूरभाष : 9314962475

# प्रकाशकीय.........

आचार्य-प्रवर श्री रामलालजी म.सा. हुक्मगच्छ के नवम् एवं परम पूज्य आचार्य-प्रवर श्री नानालालजी म.सा. के पट्टधर है। आचार्य श्री नानालालजी म.सा. ने स्वयं अपने करकमलों से बीकानेर के ऐतिहासिक जूनागढ़ दुर्ग के प्रांगण में चतुर्विध संघ की साक्षी में आपको युवाचार्य पद की 'पछेवड़ी' प्रदान की थी। आपका प्रथम स्वतंत्र चातुर्मास निम्बाहेड़ा की पावन भूमि पर सम्पन्न हुआ था। प्रस्तुत कृति जयपुर चातुर्मास में दिये गये कतिपय मंगल प्रवचनों का सम्पादित संकलन है। इन प्रवचनों का संकलन महाश्रमणीरत्ना श्री इन्द्रकंवरजी म.सा. के निर्देशानुसार विदुषी महासतीवर्या श्री सुयशप्रज्ञाजी म.सा. ने किया। सम्पादन हेतु ख्यातनाम शब्द-शिल्पी डॉ. आदर्श सक्सेना का चयन किया गया।

ग्रन्थ-प्रकाशन में हमारे संघ के उदीयमान उत्साही कार्यकर्त्ता श्री रतनलालजी राँका, चैन्नई का अर्थ सहकार-रूप आग्रह रहा। इन सभी श्रद्धेय आत्मीयजनों के भरपूर सहकार से यह भागीरथ कार्य सम्पन्न हो सका। अब श्री राम उवाच का दशम् भाग जिसका शीर्षक ''करें तीर्थ की परिक्रमा'' आपके हाथों में है। इसका प्रकाशन भी श्री रतनलालजी, मुकेशकुमारजी राकेशकुमारजी राँका, चैन्नई के अर्थ सहयोग से करवाया जा रहा है। श्रद्धेय एवम् आत्मीयजनों के प्रशस्त सहकार हेतु मैं अपनी अनेक शुभकामनाएँ एवं शुभभावनाएँ संप्रेषित किए बिना नहीं रह सकता।

सम्पादन में आचार्य-प्रवर के मूल भावों को सुरक्षित रखने का पूर्ण प्रयास किया गया है तथापि अज्ञानवश यदि कोई त्रुटि रह गई हो तो उसके लिए मैं हृदय से क्षमाप्रार्थी हूँ।

मुझे विश्वास है कि यह संकलन पाठकों को आचार्य-प्रवर की अमृतवाणी से लाभान्वित होने का सुअवसर प्रदान करेगा।

**मदनलाल कटारिया**
संयोजक
साहित्य प्रकाशन समिति
श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ, बीकानेर

# अर्थ सहयोगी : एक परिचय

## श्री रतनलालजी मुकेशकुमारजी राकेशकुमारजी रांका

### चैन्नई/सारोठ

स्वनामधन्य श्रेष्ठिवर स्वर्गीय श्री रोड़मलजी सा. राँका तथा उनकी धर्मपत्नी सुश्राविका स्वर्गीय श्रीमती कंचनबाई मूल निवासी सारोठ (ब्यावर के पास) हैं। स्व. श्री मेघराजजी रांका के सुपुत्र श्री रोड़मलजी उदार, सरल, धर्मनिष्ठ, सेवाभावी सुश्रावक थे। आपके पाँच पुत्र एवं एक पुत्री हैं। श्री राँकाजी ने अनेक व्रत-प्रत्याख्यान अंगीकार कर रखे थे। नियमपूर्वक 6-6 सामायिक, स्वाध्याय आपकी प्रतिदिन की दिनचर्या में शामिल थे।

आपके ज्येष्ठ पुत्र स्व. श्री बालचन्दजी रांका ने अपना कार्यक्षेत्र दक्षिण में चैन्नई को बनाया। व्यापार में अभिवृद्धि के साथ-साथ आपने धार्मिक, सामाजिक कार्यों में भी अपार यश प्राप्त किया। 'समता-भवन', तण्डियारपेट के निर्माण में आपका मुख्य सहयोग रहा। उनके पुत्र श्री अशोकजी भी उन्हीं के पदचिन्हों पर चल रहे हैं।

आपके द्वितीय पुत्र श्री कन्हैयालालजी राजस्थान में ही रहते हैं। आप सारोठ संघ के पूर्व अध्यक्ष हैं। आपके तृतीय सुपुत्र श्री सम्पतराजजी रांका वर्तमान में श्री साधुमार्गी जैन संघ तण्डियारपेट, चन्नैई के अध्यक्ष है। चतुर्थ पुत्र श्री पारसमलजी एवं पुत्री नवरतनबाई रूणीवाल भी धर्मनिष्ठ एवं सद्संस्कारी है एवं सपरिवार चैन्नई में रहते हैं।

आपके पाँचवे पुत्र श्री रतनलालजी रांका अत्यन्त मिलनसार, मृदुभाषी, सुहृदय, उदारमना, सेवाभावी युवारत्न है। आपका धार्मिक-सामाजिक कार्यक्षेत्र विस्तृत है। आपने श्री साधुमार्गी जैन संघ, तण्डियारपेट के पूर्व अध्यक्ष के रूप में समता भवन एवं उसकी गतिविधियों में काफी प्रशंसनीय कार्य किया। आप पूर्व में श्री साधुमार्गी जैन संघ, चैन्नई के मानद् मंत्री रह चुके हैं साथ ही साथ आप श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ, बीकानेर के राष्ट्रीय उपाध्यक्ष व राष्ट्रीय मंत्री पद को सुशोभित कर चुके है एवं वर्तमान में आप श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ का मुखपत्र श्रमणोपासक एवं साहित्य प्रकाशन समिति के सहसंयोजक है। आप श्री साधुमार्गी जैन संघ, चैन्नई के अध्यक्ष के

रूप में अपनी सेवाएँ प्रदान कर रहे हैं एवं भगवान महावीर अहिंसा प्रचार संघ, चैन्नई के आप न केवल उपाध्यक्ष है, बल्कि एक कर्मठ कार्यकर्त्ता भी है। स्थानीय एवं बाहर की अनेक संस्थाओं से आप जुड़े हुए हैं एवं उनमें आपका महत्त्वपूर्ण सहयोग रहता है। आर.आर. ट्रेडिंग कॉर्पोरेशन (प्लास्टिक) आपका व्यापारिक प्रतिष्ठान है। आप केवल व्यापार तथा धनोपार्जन में नहीं, अपितु पारमार्थिक कार्यों में भी पूर्णरूपेण सक्रिय हैं। 'सादा जीवन, उच्च विचार' के आप जीवंत प्रतीक है। धार्मिक क्रियाओं के साथ-साथ आप मानवसेवा के प्रति भी उदात्त भावना रखते है और इसी भावना को साकार रूप प्रदान करते हुए आपने अपने पूज्य माताजी-पिताजी की पुण्यस्मृति में सारोठ में श्रीमती कंचनदेवी रोड़मलजी रांका चिकित्सालय का भी निर्माण करवाया है।

आपकी धर्मपत्नी श्रीमती सन्तोषबाई धार्मिक प्रवृत्ति, संत-सती सेवा एवं आतिथ्य-सत्कार में सदैव अग्रणी रहती है एवं अपने पति को धार्मिक कार्यों में सदा सहयोग देती रहती हैं। सचमुच में यह कहावत यहाँ शत-प्रतिशत चरितार्थ होती है कि 'हर सफल आदमी के पीछे एक महिला का हाथ रहता है'। आपके दो सुपुत्र- श्री मुकेशकुमार, श्री राकशकुमार भी अपने पिता के पद्चिन्हों पर चल रहे हैं। आपकी पुत्रवधु सौ. दीपा व आरती भी धार्मिक प्रवृत्ति से ओत-प्रोत है। आपके दो सुपौत्र श्री ऋषभ, श्री आदेश व एक सुपौत्री महक है।

आपका परिवार एक धर्मनिष्ठ परिवार है। आदर्शत्यागी, पंडितरत्न, शासन प्रभावक श्री धर्मेशमुनिजी म.सा. एवं आदर्शत्यागिनी, विदुषी महासती श्री जयश्रीजी म.सा. आपके संसारपक्षीय बहनोई व बहन है।

आपका परिवार स्व. आचार्य श्री नानेश एवं वर्तमान आचार्य श्री रामेश के प्रति अनन्य आस्थावान एवं पूर्णरूपेण समर्पित है। आपने श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ को वर्तमान आचार्य-प्रवर श्री रामलालजी म.सा. के प्रवचनों एंवं सद्साहित्य को प्रकाशित करने एवं जनसाधारण तक पहुँचाने के लिए अपनी सहमति प्रदान की है, इसके लिए संघ आपका आभारी हैं। हमें अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है कि अब तक श्री राम उवाच के नौ भाग निकल चुके है और दशवां भाग **करें तीर्थ की परिक्रमा** आपके हाथों में है। सुज्ञ पाठक अधिक से अधिक इसका लाभ उठायेंगे, इसी आशा और विश्वास के साथ.....

केशरीचंद सेठिया, चैन्नई

# अनुक्रमणिका

# 1. करें तीर्थ की परिक्रमा

जब आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप का दर्शन कर लेती है या शुद्ध स्वरूप का जिस समय उसे अनुभव हो जाता है, उस समय उसे अलौकिक आनंद की अनुभूति होती है और अलौकिक अवस्था उसके समक्ष उपस्थित हो जाती है। उस अवस्था में हृदय से जो भाव प्रस्फुटित होते हैं, वे भी अलौकिक होते हैं। ऐसी ही कवि आनन्दघनजी की कविता है जो स्वतः-स्फूर्त है। उन्होंने जोड़-तोड़ कर कविता नहीं की है। उन्होंने ऐसा विचार करके कि मैं अमुक तीर्थंकर की वन्दना में कविता करूँ, इस लक्ष्य से कविता नहीं बनाई। आत्म-स्वरूप में रमण करते हुए, जिस समय जिस तीर्थंकर की अनुभूति से वे गुजरे और हृदय में जो भी भाव झंकृत हुए, उन भावों ने स्वतः ही कविता का रूप ले लिया। इसीलिए कविता में अनुपम रस भरा है। उन्होंने कविता के माध्यम से परमात्मा से कोई याचना नहीं की है, अंतर में घटित होने वाली अवस्था का ही चित्रण किया है। उन्होंने कहा है-

दुःख दोहग दूरे टल्या रे
सुख सम्पद सूं भेंट.....।

मैं पहले भी बता चुका हूँ कि दुःख-दुर्भाग्य से अपनी आत्मा को कलुषित कर लेने से कैसे दुःख-दुर्भाग्य से हमारा जीवन परिपूर्ण हो जाता है किन्तु शुद्ध स्वरूप का अनुभव होते ही कैसे दुःख-दुर्भाग्य समाप्त हो जाते हैं, सुख और सम्पत्ति अपनी सम्पूर्णता में हमें प्राप्त हो जाते हैं। सुख-सम्पत्ति की यह राशि इतनी प्रचुर होती है कि देखकर व्यक्ति चकित रह जाये, रोमांचित हो जाये और सोचे कि यह क्या ! इतनी-सारी सम्पत्ति !! मैं तो थोड़ी-सी सम्पत्ति के पीछे ही दौड़ता फिर रहा था !!! रात-दिन उसके पीछे व्यतीत कर देता था। थोड़ी-सी सम्पत्ति के पीछे मैंने कितना-कितना समय बर्बाद किया ! यदि वही समय मैंने दिव्य विचारों में व्यतीत किया होता तो एक अमूल्य निधि को मैं कभी का प्राप्त कर

चुका होता। किन्तु यह मेरा अज्ञान रहा, मेरी मोह निद्रा का परिणाम रहा कि इतने समय तक दिव्य विचार मेरे हृदय में प्रकट नहीं हो पाये और अपने भीतर की अवस्था से मैं अनभिज्ञ बना रहा। मैंने अनेक तीर्थ किये, यात्राएँ की, पर वहाँ मिला क्या ? पाषाण और पाषाण द्वारा निर्मित प्रतिमाएँ ! इनके अलावा किसी जीवंत स्वरूप के दर्शन वहाँ प्राप्त नहीं हो सके। किन्तु अब, जब मैंने अपने अंतर के तीर्थ में डुबकी लगा ली है, हृदय के द्वार खोल लिये हैं, तब मालूम पड़ा है कि वे यात्राएँ कैसी थीं। अब मैं समझ पाया हूँ कि बाहर की यात्राओं से कुछ प्राप्त होने वाला नहीं हैं। असली बात अंतर के तीर्थ को संभालना व उसकी यात्रा करना है। किन्तु जब तक उसे देख नहीं लिया गया तब तक बाहर सुन्दर लगता है। कहा भी जाता है-

**दूर से डूंगर रलियावणा।**

पर नजदीक जाते हैं तो पत्थर के अलावा वहाँ कुछ नहीं मिलता। वैसे ही जब दूर से तीर्थ की बात सुनते हैं तो मन वहाँ के लिए लालायित होने लगता है कि उस तीर्थ की यात्रा कर लें। किन्तु जिसने भीतर के तीर्थ की एक बार भी यात्रा कर ली, वह व्यक्ति बाहर के तीर्थों में कभी भटकेगा नहीं, न ही कभी भ्रमित होगा, कभी पलटकर उस ओर देखेगा भी नहीं। बल्कि वह तो अंतर के अपने तीर्थ से ही परम संतुष्ट होगा।

हम अनादिकाल से अब तक बाहर भटकते रहे हैं। अपने अंतर के तीर्थ में जो अद्‌भुत, अनमोल आनंद, सम्पत्ति है उसे पहचानें। बाहर आनंद नहीं है । आनंद जब भी प्रकट होगा, अपने ही भीतर प्रकट होगा। कवि आनन्दघनजी ने सुपार्श्वनाथ भगवान की प्रार्थना करते हुए विनयपूर्वक शांत सुधारस जलनिधि की बात कही है। उन्होंने कहा है कि भगवन् ! मैं अपने अंतर में भरे हुए जलनिधि की अनुभूति करता हूँ, मेरे अंतर में एक बूंद नहीं शांत सुधारस का जलनिधि भरा है। लोग तो अमृत की एक बूंद के लिए तरसते हैं, एक बूंद मिल जाये तो मानने लगते हैं कि सबकुछ मिल गया। पर मैंने तो अपने भीतर अमृत का लबालब भरा समुद्र पाया है। बाहर के समुद्र में तो ज्वार आता है, लहरें उठती हैं, पर मेरे भीतर के सागर में कहीं कोई ज्वार नहीं है। कहीं तूफान नहीं है, न ही

कोई डगमाला उठती है। डगमाला तभी तक उठती है, जब तक भीतर खारापन मौजूद रहता है। जैसे ही खारापन मिटा कि डगमाला समाप्त हो जाती है। ऐसा है अंतर का वह सागर, जिसमें अमृत लबालब भरा है, एक-दो बूंद नहीं, न एक-दो गिलास या एक-दो कलश, बल्कि अनंत विस्तार तक। हालांकि समुद्र का पानी ग्लास व कलश में नहीं समा सकता, पर हम व्यवहार में कह सकते हैं,

**सो ताको सागर जहाँ, जाकी प्यास बुझाय।**

यथार्थ में सागर उसे कहा जाता है, जिसकी कोई थाह न हो और वैसा सागर मेरे भीतर लहरा रहा है ? वह सागर साधारण पानी का नहीं, शांत सुधारस का है। शांति रूपी सुधा, जो अमृत है, उस रस से भरा हुआ है, किन्तु देखता कौन है ? यह हमारा दुर्भाग्य ही है कि हमने तो कभी उस ओर निगाह ही नहीं दौड़ाई, देखा ही नहीं ! नहीं देखें तो अनुभूति हो कैसे ? यदि अनुभूति करनी है तो हमें अपने भीतर की गहराईयों में झांकने का प्रयत्न करना होगा। अपने भीतर गहरे में उतरेंगे तभी पता लगेगा कि हमारे शरीर के भीतर रहने वाले आत्मतत्त्व ने कैसी-कैसी रचनाएँ की हैं। हम नहीं समझ पाते हैं, हम दौड़ते हैं, डॉक्टरों के पास, वैज्ञानिकों के पास। पर आज का विज्ञान इतना समर्थ नहीं है, इतना विकसित नहीं है कि अंतर में रचित रूपों अथवा उसके भीतर गढ़ी गई मूर्तियों की सुन्दरता का अनुमान कर सके। परन्तु हमारे भीतर का विज्ञान समर्थ है। आप कल्पना कीजिये कि यहाँ जितने व्यक्ति वैठे हैं, सवकी शक्ल-सूरत किसने गढ़ी है ? इतनी डिजाइनें किसने वनाई हैं ? ये तो मनुष्य की वात हैं, पर तितलियों में इतने रंग किसने भरे हैं ? आँख के भाग में इतना भाग काला, वाल काले, आँख-नाक यथास्थान, आगे-पीछे नहीं और उसमें भी यह आश्चर्य की वात कि सवकी आँखों का आकार एक-सा ! सवके चेहरों का स्वरूप एक-सा ! इतनी डिजाइनें कौन वनाता है ? कैसे वनती हैं इतनी डिजाइनें ? आज वड़े-वड़े कलाकार भी इतनी डिजाइनें नहीं वना सकते, जितनी डिजाइनें यह आत्मा रचता आया है।

यह मत सोचिये कि यह पहली डिजाइन ही वनाई गई है। अव तक हमने एक ही शरीर नहीं प्राप्त किया है, न जाने कितने शरीर प्राप्त

किये हैं। हम तो यह भी बतला नहीं सकते कि हमारी आत्मा ने अव तक कितने शरीर धारण किये हैं। केलकुलेटर या विज्ञान का कोई साधन ले लीजिये, पर उससे भी ये आँकड़े आप फलित नहीं कर पाओगे। प्रत्येक आत्मा राजा, रानी, युवराज, पति-पत्नी के रूप में, पुत्र और जितनी भी योनियों के प्रकार है, उन सारे प्रकारों में, कितनी बार जन्म-मरण कर चुकी है, इसका हिसाब कोई लगा सकता है क्या ? गौतम स्वामी ने भगवान महावीर से पूछा- एक बार, दो बार, तीन बार, कितनी बार ये रूप धारण किये हैं ? भगवान ने कहा- णो इणट्ठे-समट्ठे। अनंत बार किये हैं। अनंत बार ये सारे रूप बनाये हैं। हमारी आत्मा ने अलग-अलग समय में अलग-अलग रचनाओं में अलग-अलग रंग भरे हैं और अलग-अलग डिजाइनें बनाई हैं। यह सारी कला किसमें हैं यह महिमा भीतर के चैतन्य की कला की है, पर हम कहाँ समझ रहे हैं। हम तो आज भी बाहर की कला के पीछे दौड़ते हैं। चाहे सामायिक का समय मिले या न मिले, पर टी.वी. देखने का इतना शौक है कि छोड़ नहीं सकते। अभी तो नहीं, किन्तु जब रामायण का सीरियल प्रसारित हो रहा था तब लोग कहने लगे थे- व्याख्यान का समय बदल दीजिये।' ''क्या देखना हैं ? ''रामायण।'' टी.वी. के पर्दे पर देखेंगे। उसमें क्या देखना है ? अपने भीतर के पर्दे को खोल लीजिये, वैसी रामायण एक बार नहीं, अनेक बार हमारी आत्मा ने रची है और वैसे पार्ट हमारी आत्मा ने अनेक बार अदा किये हैं।

यह भी समझ लें कि कृष्ण की बात भी अनेक रूपों में आती है। परन्तु सभी बातें लोग जानते कहाँ है। हम महाभारत के कर्ण की ही बात लें। इस प्रसंग को कितने लोग जानते है।

एक दृष्टांत सुनिये। जव कर्ण मृत्युशय्या पर पड़ा हुआ था तव उसने पांडवों से कहा था- मेरा अंतिम संस्कार ऐसे स्थान पर किया जाये जहाँ किसी कर्ण को जलाया नहीं गया हो। पाण्डवों ने जगह तलाश करनी शुरू की। परन्तु जहाँ-जहाँ चिता वनाने की उन्होंने तैयारी की, तो पता चला कि वहाँ सैकड़ों कर्ण पहले ही जलाये जा चुके हैं। तव वे पहाड़ की नुकीली चोटी पर पहुँचे। वहाँ तैयारी की तो, पुराणों में अंकित है, कि देववाणी हुई-

अत्र द्रोणा शतं दग्धं,
पांडवानां शतत्रयं।
दुर्योधन सहस्त्राणि,
कर्ण संख्या न विद्यते॥

यहाँ पर द्रोणाचार्य सैकड़ों और पांडव (अर्थात् युधिष्ठिर, नकुल सहदेव, भीम और अर्जुन) तीन सौ, दुर्योधन हजारों और कर्ण नाम के तो संख्यातीत व्यक्ति यहाँ जलाए जा चुके हैं। यह तो वैदिक शास्त्रों की बात हुई, परन्तु यदि जैन शास्त्रों की बात करें तो सभी की आँखे खुली रह जायेंगी क्योंकि वैदिकों की मान्यता के अनुसार गीता के नायक कृष्ण तो 5000 वर्ष पुराने हैं, पर ज़ैनियों के कृष्ण लगभग 86,000 वर्ष पुराने हैं। पर यह विवाद करने का विषय नहीं है, क्योंकि हम मानते हैं कि हमारी आत्मा अनंतकाल से भटक रही है। वह एक बार नहीं, अनेक बार कृष्ण बन चुकी है, अनेक बार कर्ण बन चुकी है। किन्तु वही आत्मा केवली या तीर्थंकर केवल एक बार बन सकती है। हाँ, वीतराग की अवस्था या वीतरागता कई बार आ सकती है ? वीतरागता कितनी बार आ सकती है कई बार हमारी आत्मा वीतराग बनकर भी रागी बन जाती है। वह चार बार, वीतराग बनकर भी रागी बन सकती है, पर पाँचवीं बार वीतरागी बने तो केवली बनती ही है। पाँच बार एक आत्मा को वीतराग बनने के अवसर मिलते हैं, किन्तु पाँचवीं बार निश्चित रूप से वह मुक्ति प्राप्त कर लेती है। जब अंदर के पट खुलते हैं तब अनुभूति कर पाते हैं कि वहाँ वीतरागता उपस्थित है। कभी उन्हें खोला या नहीं ? रोज शाम को खाते मिलाते हो। बाहर के मंदिर में अगरबती लगाते हो, पर क्या कभी भीतर विराजे देव की खोज-खबर भी ली ? कितनी बार अगरबत्ती लगायी है वहाँ ? इसकी किसको फुर्सत है ? अंतर को खोलने की चाबियाँ होनी चाहिये। वे चाबियाँ हमारे पास नहीं हैं। इसलिये जो ताले लगे हुए हैं, वे लगे रह जाते हैं।

एक करोड़पति सेठ अपने पुत्रों को बता रहा था- एक तिजोरी में ये चीजें, दूसरी तिजोरी में ये चीजें, तीसरी में ये चीजें और बताते-बताते उसका स्वर्गवास हो गया। पुत्र खुश हो गये कि उनके पिता इतनी-सारी

सम्पत्ति छोड़ गये हैं। पुत्र तिजौरियाँ खोलने का प्रयत्न करने लगे, पर वे खुली नहीं। तीन तिजौरियों की बातें तो उन्होंने सुन ली थी, पर एक चावी की बात नहीं जानी थी, वह जान लेते तो मालामाल हो जाते। पिता ने बता तो दिया, पर वह ज्ञान किस काम का ? चाबी तो एक की भी नहीं बताई।

विचार कीजिये कि तीर्थंकर देवो ने कितनी तिजौरियाँ दी हैं ? कभी गिनती की ? कितनी दी, मालूम है ? इधर से आवाज आ रही है- ''चार- दान, शील, तप और भावना की। भगवान महावीर ही नहीं, प्रत्येक तीर्थंकर 12 तिजौरियाँ देते हैं। ये तिजौरियाँ हैं 12 अंग शास्त्र, जो तीर्थंकर देवों की वाणी हैं। गणिपिटक 12 अंगशास्त्र माने गये हैं- आचारांग, सूयगडांग ठाणांग आदि। इनमें तीर्थंकर देवों की वाणी है। प्रत्येक तीर्थंकर अपने समय में अन्य जीवों के कल्याण के लिए अर्पित करते हैं। आज भी हमारे पास ये तिजौरियाँ पड़ी हैं। कई व्यक्ति इस सम्पत्ति की इन तिजौरियों को बन्द ही रहने देते हैं। परिणाम यह होता है कि यदि पूछ लें कि आचारांग क्या बोलता है भगवतीसूत्र क्या बोलता है ? तो णमो अरिहंताणं। हम अपनी इस निधि को संभाल नहीं पाते हैं और इधर से उधर भटकते फिरते हैं। पर जब बाहर शांति नहीं है तो वहाँ मिलेगी कैसे ? शांति हमारे भीतर है। उसे हम आयात नहीं कर सकते। हम चाहें कि बाहर से प्राप्त कर लें तो प्राप्त होनी नहीं है। चाहे मंदिर, मस्जिद, किसी धर्मस्थान या गिरजाघर में चले जायें। शांति न मंदिर में है, न गिरजाघर में, न ही जैन स्थानक में है। शांति है आत्मा में और यदि उसकी खोज आत्मा में कर ली तो अशांति रह नहीं पायेगी। ऐसी खोज कवि आनन्दघनजी ने की तो ये भाव प्रकट हो गये-

**दुःख दोहग दूरे टल्या रे,**
**सुख सम्पद सूं भेंट........।**

अब तक जिस दुःख-दुर्भाग्य का भय मुझे सता रहा था कि पता नहीं किस समय दुःख आ पड़े, कब दुर्भाग्य प्रकट हो जाये ! अब उस दुख-दुर्भाग्य से घबराहट नहीं रही है। आ भी जाये तो दुःख मुझे दुःखी नहीं कर सकेगा। जिस समय भगतसिंह को फाँसी के तख्ते पर चढ़ने का

सका। उन्होंने तो उल्लासपूर्वक कहा- "मैं तैयार हूँ।" जब देशभक्ति में इतनी वीरता आ जाती है तो हम धर्मात्मा कहलाने वाले क्या धर्म के लिए मर-मिटने को तैयार नहीं हो सकते ? जब-तब आपसी क्लेश के चलते हम भिड़ते रहते हैं, पर धर्म की रक्षा के लिये पारस्परिक वैमनस्य को बारूद नहीं दिखा देते तब तक हम धार्मिक कहलाने के अधिकारी नहीं हैं। अभी स्थिति यह है कि जब तक स्थितियाँ सामान्य रहती हैं तब तक तो हम धर्मात्मा बने रहते हैं, पर जैसे ही आपत्ति या संकट आता है, हम धर्म से किनारा कर लेते हैं। ऐसी जिन्दगी जीते रहे तो आत्मा को बहुत-से रंग रंगते रहेंगे, परन्तु यदि किसी रंग से हम बदरंग न होना चाहें तो कवि की इस सलाह को मान लें-

**धर्म की पूँजी कमाले, कमाले जीवा,**
**जीवन बन जाएगा.......।**

जीवन पर केवल संयम का रंग चढा लो। संयम का रंग कैसे चढ़ाना, उसकी विधि भी समझ लो। एक रंगरेज को जब आप कपड़ा देते हैं तो पहले वह क्या करता है ? पाली वाले जानते हैं। उस पर पहले से चढ़े हुए रंग को वह उतारता है। उसके बाद ही चढ़ाया गया नया रंग उभरता है। पहले से कोई रंग यदि चढ़ा है तो फिर अच्छे से अच्छा रंग भी यदि चढा दें तो भी रौनक नहीं आयेगी। आज हमारी हालत यही है कि हम पहले के रंग को तो छोड़ना नहीं चाहते, पर धर्मस्थान में आकर ऊपर से नये रंग का पोता लगा लेते हैं। विचार कीजिये कि आपके धर्मस्थान की दीवार पर यदि पहले से कोई रंग लगा है, उसी पर यदि पोताई कर दी जाये तो क्या चमक आयेगी ? ऐसी ही स्थिति हमारी आत्मा के साथ भी है। तो उस पर चमक कहाँ से आएगी ? हमारे अंतर पर कितने रंग लगे हैं ? कहीं क्रोध का रंग, कहीं लोभ का, कहीं कृष्ण लेश्या का और कहीं तेजोलेश्या का रंग लगा है, फिर दूसरा रंग लगायें तो एक अलग ही रंग बनेगा, किन्तु शुद्ध रंग नहीं बनेगा। यदि शुद्ध रंग लगाना है, आत्मा को धर्म से अनुरंजित करना है तो पहले से चढ़े रंग को उतार दो। राग-द्वेष, ईर्ष्या-डाह के रंग पहले से चढ़े हैं, उन्हें सोडे-साजी से साफ कर दो। इसीलिए तो पर्व पर्युषण आते हैं कि साल-भर में जो

लगाया है उसे 7 दिन रगड़-रगड़ कर धो लो। फिर संवत्सरी के दिन पूरी धुलाई हो जाये ताकि किसी भी कोने में, आत्मा के किसी भी प्रदेश में कचरा न रह जाये, ढूंढने पर भी न मिले, केवलियों के ज्ञान में कोई वैर-विरोध न रहे। फिर देखिये कि एक प्रवचन का ही कैसा चमत्कारिक परिणाम निकलता है। मेरे ख्यांल से अधिक की आवश्यकता ही नहीं रहेगी। मेघकुमार ने कितने प्रवचन सुने थे ? गजसुकुमाल ने कितने प्रवचन सुने थे ? और जिस दिन माथा मुंडाया उसी दिन सिर पर अंगारे पड़ गये।

**अंगारे सिर पर धधक रहे,**
**समभाव से गजसुकुमाल सहे।**
**केवल ज्योति प्रकटाये हैं,**
**जिन धर्म की गंगा लाये है॥**

वाह ! वाह ! बोलने में कितना रस आ जाता है कि सिर पर अंगारे धधक रहे हैं ! पर आज तो चिनगारी भी और चिनगारी तो जाने दो, किसी ने मुँह से कुछ बोल दिया तो वह भी एटमबम का काम करता है। दीपावली में आप राकेट छोड़ते हो ना ! जैसे एक चिनगारी लगते ही वह आकाश में उछलता है, वैसे ही मुँह से चिनगारी छोड़ी तो अहं उछलता है। किन्तु उस राकेट की क्या दशा होती है ? आकाश में ऊपर जाता है। किन्तु फिर तुरन्त नीचे गिर जाता है। वैसे ही हम भी उछलते हैं। तो वहाँ क्या अंगारे रखवाये जा सकते हैं ? अंगारे रखवाये जा सकते हैं, बशर्ते 'शांत सुधारस' का ज्ञान हो जाये। वह प्राप्त हो जाये। जिसे उसकी प्राप्ति हो जाती है तो वह सोचता है- ये अंगारे मेरा क्या बिगाड़ सकते हैं जब अमृत का इतना बड़ा सागर मेरे भीतर हिलोरें ले रहा है ? अमृत की एक बूंद पीने वाला भी जब अमर हो सकता है तो मेरे भीतर तो सागर भरा है, फिर डर किस बात का ? मगर हमें डर है, क्योंकि हमें जानकारी नहीं है। कवि आनन्दघनजी को जानकारी हो गई तो प्रखर आत्म-तेज प्रकट हो गया।

गजसुकुमाल के प्रसंग को आज के कवि अपने रंग से देखते हैं। वे कहते हैं कि गजसुकुमाल सोच रहे थे कि मेरे ससुर पगड़ी बांध रहे हैं। ज़रा विचार करें कि उन्हें क्या इतनी फुर्सत थी कि ससुरजी पगड़ी

बांध रहे थे इसका अनुमान भी कर सकते ? उनका तो उस ओर ध्यान ही नहीं रहा होगा, क्योंकि परमात्म भक्ति को या जो अपने शुद्ध आत्मतत्त्व के ज्ञान को, ऐसे आत्मतेज को प्राप्त कर लेता है।

वह तो सभी बाह्य परिस्थितियों के प्रभावों से पूर्णतः मुक्त हो जाता है। तभी कवि कहता है-

**धींग धणी माथे कियो रे कौन गंजे नर खेट।**

धींग अर्थात् समर्थ। समर्थ पुरुष को अपना स्वामी बना लिया तो अब कोई क्या बिगाड़ सकता है ? आप लोग भी एक दोहा बोलते हैं-

**जाको राखे सांइयां, मार सकै ना कोय।**
**बाल न बांका करि सके, जो जग बैरी होय॥**

एक तरफ व्यक्ति अकेला हो और दूसरी तरफ सारा जग एक हो जाये तो भी जिसने धींग धणी, अर्थात् तीर्थंकर जैसे महापुरुष को स्वामी बना लिया है, कोई उसका कुछ बिगाड़ नहीं सकता। गजसुकुमाल ने ऐसें ही पुरुष अरिष्टनेमि भगवान को अपना स्वामी बना लिया था। सोमिल ने चाहे अंगारे रख दिये हों, शरीर चाहे जलकर समाप्त हो गया हो, पर आत्मा तो कुंदन बन गई। उसने तो सारे मैल को साफ कर शुद्ध अवस्था प्राप्त कर ली।

वंधुओ ! मैं अधिक क्या कहूँ, जिसने भी तीर्थंकर देवों को स्वामी बना लिया वह तो पूर्ण सुरक्षित हो गया। आप भी समर्पण करते हैं, पर वह समर्पण वचनों का ही तो नहीं है ? वह जुबानी जमा-खर्च मात्र तो नहीं है ? जुबानी जमा-खर्च की कोई कीमत नहीं होती। थोड़े दिनों में भूले और समाप्त। जुवानी जमा-खर्च से काम नहीं चलता। यदि वस्तुतः जीवन में वह तत्त्व प्रकट हो जाता है तो फिर बोलने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। हमने अपने अंदर अनुभूति कर ली तो फिर कोई विगाड़ नहीं कर पाए, ऐसी ताकत हमारे भीतर उत्पन्न हो जाती हैं। वशर्ते हम उसे सही रूप में जागृत कर लें।

इस संदर्भ में एक बात और समझ लेने की है जो किंचित् भिन्न अवश्य है, परन्तु धर्मरक्षा की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है और आप यह

भी जानते हैं कि जो धर्म की रक्षा करता है, धर्म भी उसकी रक्षा करता है। परन्तु आजकल जुबानी जमा-खर्च ही ज्यादा होता है, सार्थक प्रयास कम होते हैं। हम भगवान महावीर का जन्म-महोत्सव बड़े उत्साह से मनाते हैं, अच्छी बात है। इस बार उनका 2600वां जन्म महोत्सव मनाने की बात चल रही है। कहा जा रहा है कि भगवान महावीर का जन्म-महोत्सव धूमधाम से मनाया जायेगा। पर होगा क्या ? मंच पर गीत गा लेंगे, प्रशस्ति गान कर लेंगे, भजन गा लेंगे, पर क्या जीवन में महावीर को उतार पाएँगे ? पूज्य गुरुदेव कई बार अपनी पीड़ा व्यक्त करते थे। एकता के स्वर तो बहुत जोर-शोर से गुंजरित हो रहे हैं, पर हमारी सवंत्सरी तक एक नहीं है। पहले हम उस विषय में चिन्तन तो करें। महावीर जयंती हम प्रतिवर्ष मना लेते हैं, पर मनाकर हमने कितने महावीर तैयार किये हैं ? और कह रहे हैं कि 2600वीं जयंती दिल्ली वाले ऑल इंडिया स्तर पर मनाएंगे, पर यदि एक महावीर भी तैयार कर पायें तो मैं मानूंगा कि बहुत बड़ा कार्य कर लिया। मैं कड़वी भाषा में कहूँ तो सत्य यह है कि हम महावीर के टुकड़े- टुकड़े कर रहे हैं। जैसे बहिनें ककड़ी-तोरई को सुधार कर टुकड़े करती हैं। वैसे ही हम महावीर के टुकड़े कर रहे हैं। उनके सिद्धांतों की धज्जियाँ उड़ा रहे हैं। कैसे-कैसे खेल खेलते हैं और कहते हैं कि महावीर की 2600वीं जयन्ती मना रहे हैं। पर यह सब वैसा ही होगा कि पहले का रंग साफ किया नहीं और दूसरा चढ़ा दिया या हल्दी का रंग लगा दिया और धूप दिखा दी। आपको जानकारी हो, न हो, पर बहिनों से पूछो, वे बतायेंगी कि वह रंग उड़ जायेगा। वैसे ही हम व्याख्यान सुनते हैं तब तक तो रंग चढ़ता है, पर बाहर संसार की धूप-हवा लगी नहीं कि सारा रंग साफ हो जाता है। पहले के जो रंग लगे हैं, उन्हें साफ नहीं किया और ऊपर का रंग पक्का नहीं हुआ तो धुलने पर साफ हो जायेगा। हम महावीर की संतान कहलाते हैं तो मन में यह संकल्प भी करें कि अपने निमित्त से हम कोई ऐसे कार्य नहीं करेंगे जिनसे धर्म की हानि हो।

हम चिन्तन-मनन करें कि महावीर को हम अपने भीतर कितना प्रतिष्ठित कर पाये हैं और कितना उनके सिद्धांतों के प्रति वफादार बने हैं? यदि उनके सिद्धान्त की रक्षा न कर सकें तो उनकी धज्जियाँ तो न उड़ायें।

उन्हें शाश्वत रूप में विवेचित करते हुए तो हमारा जीवन सार्थक बनेगा। अंतर के तीर्थ में अवगाहन करने का पुरुषार्थ करेंगे तो जीवन धन्य बनेगा। हम अंतर के तीर्थ को टटोलें, उसकी शरण में जायें, उसे साधें, क्योंकि "एके साधे सब सधे।"

कहते हैं, एक बार देवों में होड़ लगी कि सबसे पहले पूजा किसकी हो। एक कहता है मेरी, दूसरा कहता है मेरी। उलझन पैदा हो गई। बात पहुँच गई विष्णुजी के पास। विष्णुजी ने सोचा कि किसी एक का नाम ले लिया तो कहेंगे पक्षपात कर दिया। जब दिमाग में ही पक्षपात भरा होता तो लोग भगवान को भी नहीं छोड़ते। अत: विष्णुजी ने कहा- जो पृथ्वी की परिक्रमा करके सबसे पहले आ जायेगा, वही प्रथम पूजनीय होगा। सभी देव विमान लेकर फुल स्पीड से दौड़ पड़े। गणेशजी का वाहन है मूषक। अत: वे चिंतित हो गये। बृहस्पति ने देखा तो पूछा- तू परिक्रमा क्यों नहीं कर रहा है ? गणेशजी ने कहा- प्रतियोगिता में सफल तो वैसे भी नहीं हो सकता, क्योंकि मेरा वाहन तो मूषक है तो व्यर्थ का प्रयास क्यों करूँ ? बृहस्पति ने समझाया- अरे ! सारे देवता बाहर की पृथ्वी की परिक्रमा कर रहे हैं, वह तुम्हारी माता घर की तीर्थ हैं। जैसे पृथ्वी सबको झेलती है, वैसे ही माता भी सबको झेलती है। माता की ही परिक्रमा कर लो, पृथ्वी की परिक्रमा हो जाएगी। गणेशजी को मार्गदर्शन मिल गया। उन्होंने मूषक पर बैठकर माता की परिक्रमा कर ली। तभी प्रतियोगिता की समाप्ति का घंटा बज गया। दूसरे तो कोई आये नहीं थे। देव आये तो बताया गया कि गणेशजी ने सबसे पहले परिक्रमा पूरी कर ली थी। बस, बाहर की करने वाले रह गये। घर की तीर्थ माता होती है। उस माता की परिक्रमा जैसे होती है वैसे ही हम अपने तीर्थ की परिक्रमा कर लें तो जीवन धन्य हो जाये। पर यह बात समझने की है। यह समझ में भी तभी आती है जब अंतर शुद्ध हो, अंतर के द्वार खुल चुके हों। धर्मशास्त्र ऐसे उदाहरणों से भरे पड़े हैं, पर बात तो ज्ञान की है। अत: आत्मा के शुद्ध रूप को प्राप्त करें तो सब दु:ख-दुर्भाग्य समाप्त हो जायें।

24.09.2000

❖ ❖ ❖

# 2. चित्र नहीं चारित्र पूजा

भूखा व्यक्ति भोजन ग्रहण कर जब तृप्त हो जाता है, प्यासा व्यक्ति शीतल जल पीकर जब अपनी प्यास को शांत कर लेता है, तब उसे तृप्ति की अनुपम अनुभूति होती है। वैसे ही जब भक्त परमात्मा के चरणों में पहुँच जाता है या जब वह परमात्मा के चरणों के मकरंद का पान कर लेता है, तब उसे भी अनुपम अनुभूति होती है। अंतर यह है कि पहली तृप्ति या अनुभूति लौकिक होती है और दूसरी अलौकिक। इस अलौकिक तृप्ति में जो अभिव्यक्ति होती है। वह भी अलौकिक होती है अर्थात् उसकी अनुभूति आत्म-तृप्ति की अवस्था का परिचय कराती है।

**दुःख दोहग दूरे टल्या रे,**
**सुख सम्पद सूं भेंट....।**

कवि आनन्दघनजी विमलनाथ भगवान की स्तुति करते हुए जब प्रेम से सराबोर हुए तब उनकी तृप्ति भी ऐसे ही अनुपम रूप में अभिव्यक्त हुई-

**चरण कमल कमला बसे रे,**
**निर्मल स्थिर पद देख।**
**समल अस्थिर पद परिहरे रे,**
**पंकज पामर पेख....।।**

जब तक परमात्मा के चरणों में व्यक्ति स्वयं को अर्पित नहीं कर देता और जब तक समर्पण की अनुभूति को अपने शुद्ध स्वभाव का विषय नहीं बना लेता तब तक वह बाहर ही भटकता रहता है। किन्तु जब अंतर की अनुभूति हो जाती है तब वह देख लेता है-

**चरण कमल कमला बसे रे....।**

तीर्थंकर देवों के चरणों में न्यौछावर लक्ष्मी को देखकर वह

वह लक्ष्मी तो तीर्थंकर देवों के पैरों में पड़ी है, उसका निवास तो यहाँ है और यहाँ इतना भंडार भरा पड़ा है तब लक्ष्मी के वास्तविक स्वरूप को पहचानकर वह अपने आप में तृप्त हो जाता है। तब वह गा उठता है-

**समल अस्थिर पद परिहरे रे....।**

भौतिक लक्ष्मी जो समल है अर्थात् मल सहित कीचड़ में पनपे हुए जिस पंकज पर रहने वाली है, वह पंकज भी स्थिर नहीं है, अस्थिर है। कमल अस्थिर है तो उस पर रहने वाली स्थिर कैसे रह सकती है ? वह भी अस्थिर है। पर उसने देखा कि वही अस्थिर लक्ष्मी तीर्थंकर देवों के चरणों में स्थिर है। तब उसकी मति पलटी और उसने तीर्थंकर देवों की आध्यात्मिक लक्ष्मी को प्राप्त कर लिया। इस प्राप्ति के बाद बाहर की लक्ष्मी उसके लिए उपादेय नहीं रह गई। परिणामस्वरूप उस लक्ष्मी के प्रति उसका मोह भंग हो गया। उसे स्पष्ट हो गया कि अब तक के उसके विचार और उसकी सोच आधारहीन थी। वह यह भी समझ गया कि वे वस्तुतः स्वप्न थे और भ्रमणा की स्थिति से उसका मोह भंग हो गया। तब यह यथार्थ उसके सामने स्पष्ट हो गया कि उसने जो बहुत से स्वप्न देखे थे वे सारे छिन्न हो चुके थे। तीर्थंकर देवों के चरणों का अनुभव ऐसा चमत्कारिक परिवर्तन करने वाला होता है।

आप भी संतों के दर्शन के लिए पहुँचते हैं, कैसे करते हैं दर्शन ? दर्शन भले ही आँखों से करें, किन्तु उतने में संतोष नहीं होता है। संतोष का अनुभव होता है चरण स्पर्श करने से। पर विचार करना कि संतों का ज्ञान तो चरणों में नहीं होता, वह तो मस्तिष्क में होता है। संतों की दया, करुणा, क्षमा भी हृदय में होगी, फिर हम चरण ही स्पर्श क्यों करें ? ज्ञान से संगत करनी है तो सिर से संपर्क करें, करुणा-दया से संगत करनी है तो हृदय से संपर्क करें, जैसे राम-भरत को हृदय से लगाकर मिले, वैसे ही संतों से क्यों नहीं मिलते ? चरणों पर ही मस्तक क्यों नमाते हैं ? कारण है आपको लक्ष्मी प्रिय है और लक्ष्मी का वास कहाँ है ? तो कहा- भाई लक्ष्मी तो चरणों में वास करती है और जो लक्ष्मी को ठोकर मारता है, माथे नहीं चढाता, उसी के चरण पूजते हैं।

परन्तु जो लक्ष्मी को माथे पर चढ़ाकर रखते हैं, उनके चरण पूजते हैं क्या ? उत्तर होगा- 'नहीं'। पर ऐसी बात भी नहीं है कि 'नहीं पूजते'। आज जो लक्ष्मी को माथे पर लेकर चल रहे हैं, ऐसे लोगों की भी पूजा-प्रतिष्ठा होती है। ऐसी पूजा-प्रतिष्ठा के कारण ही धर्म का ह्रास हुआ है। हम यथार्थ को जान नहीं पाते हैं। होना तो यह चाहिये कि लक्ष्मी को सिर पर न रखा जाये। उसका स्थान पैरों में है। आत्मा का यदि स्वरूप तलाशा जाये तो आत्मा का स्वरूप विष्णु के रूप में है। आचारांग में भी आत्मा को पुरुष कहकर पुकारा गया है और लक्ष्मी स्त्री का रूप है। उसे सिर पर चढ़ाने से क्या स्थिति होती है। ये अनुभव करने वाले कर रहे हैं। विष्णुजी की स्थिति से विचार करें तो उनके भी चरणों में लक्ष्मी रहा करती है। वैसे भी लक्ष्मी का स्थान चरण ही माना गया है। इसलिए हम तीर्थंकर देवों के लिए कहते हैं- 'चरण कमल कमला बसे रे' किन्तु उसे भौतिक लक्ष्मी मत समझ लेना क्योंकि तीर्थंकर देव भौतिक लक्ष्मी को - ''मणसा वि ण पत्थए''। मन से भी नहीं चाहते हैं। हालांकि तीर्थंकर नाम कर्म के उदय से अष्ट प्रतिहार्य उनके साथ रहते हैं, छत्र-चामर आदि-आदि और उनकी महिमा को दृष्टिगत करने में उन प्रतिहार्यों का योगदान भी होता है, किन्तु यथार्थ में उनके चरण कौन से हैं ? परमात्मा के / संतों के चरण कौन से हैं ? बाहर के चरण हम क्यों प्राप्त करना चाहते हैं ? इसलिए कि हम उनके भावात्मक चरण प्राप्त नहीं कर पाते तो बाहर के चरणों को महत्त्व देने की स्थिति में आ जाते हैं। तीर्थंकर देवों के भाव चरण यथाख्यात चारित्र हैं, वे निर्मल हैं, स्थिर हैं। वहाँ अस्थिरता नहीं है। हमारे चारित्र में अस्थिरता हो सकती हैं, किन्तु तीर्थंकर देवों का चारित्र स्थिर होता है। आत्म-स्वरूप में नित्य रमण की अवस्था होने से अस्थिरता नहीं होती और मोह कर्म का समूल नाश होने से चरण मल रहित होते हैं। इसलिए अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत सुख और अनंत वीर्य रूप / अनंत चतुष्ट्य रूप लक्ष्मी सदा उनके चरणों में लोट-पोट होती रहती है। संतों के बाह्य चरणों के प्रति लोगों का अनुराग रहता है। किन्तु यथार्थ में चरण से तात्पर्य तो संतों के महाव्रत से है, चारित्र से है, आचरण से है, उनकी तो पूजा होनी चाहिये। ये नहीं कि हम बाहर के

चरणों तक ही सीमित रह जाये। यथार्थ चरण उनका चारित्र, उनका महाव्रत है, उन्हें आप नमन करते हो, न कि किसी शरीर को या पोशाक को।

नमन किसे किया जाता है ? यदि कोई बहुरूपिया साधु की पोशाक सजाकर आ जाये और आपको ज्ञात हो जाये कि ये बहुरूपिया है तो कितनी बार वंदन करोगे ? एक बार भी वंदन नहीं करोगे। क्यों ? क्या साधु की पोशाक नहीं है ? पोशाक मात्र से वंदना नहीं होती है। तभी तो कहा जाता है-

**जात न पूछो साधु की, पूछ लीजिये ज्ञान।**

जात से तो साधु क्षत्रिय, वैश्य, शुद्र, ब्राह्मण भी हो सकते हैं। हरिकेशी चांडाल कुल के थे; अर्जुन मालाकार कुल के थे, जम्बू वैश्य कुल के थे और गणधर गौतम तथा सुधर्मा, ब्राह्मण कुल में जन्मे थे। आर्य प्रभव क्षत्रिय कुल में जन्मे थे। यहाँ जाति या कुल के संबंध का महत्त्व नहीं है। जो भी उस चारित्र में रमण करने वाला है या जिसने भी इस धम प्रज्ञप्ति को स्वीकार कर रखा है वह साधु है। इसीलिए कहा जाता है- जात मत देखो, ज्ञान देख लो। जाति देखे तो हरिकेशी को वंदन नहीं कर पाओगे। सोचोगे कि वह तो जाति से चांडाल है, हम उत्तम कुल में जन्मे हैं, उन्हें वंदन-नमस्कार कैसे करें ? यथार्थ में जाति के बल पर कोई वंदना नहीं है, बल्कि उनका जो ज्ञान है, चारित्र है उसी के आधार पर वंदना है और उसी के आधार पर पूजा और अर्चना भी है। इसीलिए कहा जाता है- 'चरण कमल कमला बसे रे' अर्थात् चरण कमल में वह कमला अर्थात् आध्यात्मिक लक्ष्मी वास करती है। हम चरण की बात को एक और तरह से भी समझ लें।

कहा जाता है कि श्रुत और चारित्र, ये दो चरण हैं। श्रुत व चारित्र की भव्य आराधना करें, तभी सही दिशा में आराधना हो पाएगी। श्रुत हम प्राप्त करना चाहते हैं, क्योंकि बिना श्रुत के चारित्र की आराधना सम्यक् नहीं हो पाएगी और श्रुत के भंडार मुनि होते हैं इसलिए मस्तिष्क मुनि चरण में नमाते हैं कि मस्तिष्क में श्रुत का प्रवेश हो जाये। इस प्रकार

हमारा उत्तमांग जब नमता है तब ज्ञान-प्राप्ति के लिए हमारे भीतर पात्रता भी उत्पन्न हो जाती है। इसलिए चरणों में नतमस्तक होने का प्रसंग होता है। किन्तु नतमस्तक होते हुए ये विचार भी होना चाहिये कि मैं ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप चरण की उपासना कर रहा हूँ, केवल माँसपिण्ड के लोथड़े की नहीं। वह लोथड़ा तो पहले भी था और जिस समय आत्मा निकल जायेगी तब भी वह माँसपिण्ड-शरीर पड़ा रहेगा, किन्तु उस शरीर की पूजा नहीं होगी। ये बात अलग है कि आज के युग में व्यक्ति सिद्धान्त को नहीं जानता अत: मृत शरीर, मात्र कलेवर को भी वंदन/नमस्कार करने लगता है। और तो क्या, घर में छायाचित्र पड़ा है तो उसे भी नमन करने की स्थिति में आ जाता है। कहाँ हमारा जीव और कहाँ चेतना और हम जड़ मान्यता में पदार्पण करने लगे हैं। यह हमारी भयंकर भूल है।

आचार्यदेव आचार्य श्री नानेश जब अजमेर में थे तब जानकारी मिली कि लोग उनके फोटो खरीद रहे थे। उन्होंने प्रवचन में स्पष्ट उद्घोष किया कि यदि मुझ पर विश्वास और श्रद्धा करते हो तो मैं स्पष्ट कहता हूँ कि मेरे फोटो को फाड़कर फेंक दीजिये। विचार कीजिये कितनों के हाथ फोटो फाड़ने के लिए तैयार हो पाएंगे ? आचार्यदेव ने कहा- "मेरे पर श्रद्धा हो तो फाड़ दो।" नहीं फाड़ा तो विपरीत अर्थ क्या हुआ ? श्रद्धा नहीं है। कैसी श्रद्धा ? फोटो के प्रति श्रद्धा है, जीवन्त चेतना के प्रति श्रद्धा कहाँ है ? गुरु के फोटो, साधु के फोटो के प्रति यह श्रद्धा क्यों हो जाती है ? तीर्थंकर देवों या संतों की फोटो जब अखबार में छपती है तो वह कचरा-पट्टी में फैंका जाता है, कूड़ेदान में चला जाता है। महिलाएँ, बच्चों का मल उससे पौंछकर उसे फेंक देती है; तव श्रद्धा कहाँ चली जाती है ? विश्वास कहाँ चला जाता है ? हमने अपने मन में भले कुछ बातें जमा रखी हों, किन्तु सिद्धान्त की दृष्टि से ये सभी बातें गलत हैं। आज तो फोटो को नमन करते हो, किन्तु आने वाले समय में उसके सामने अगरबत्ती भी लगने लगेगी और लगने भी लग गई है। कई भाई जिन्होंने घर में पूजा के आलिये बना रखे हैं और जिनमें भैरूंजी, भवानीजी आदि की फोटो लगी हैं, उन्हीं के साथ संतों की फोटो भी लगा रखी है। जो अगरबत्ती लगाई जाती है उसे सभी की तरफ धुमा दी जाती

है। क्या ये सभी बातें सिद्धान्त के अनुरूप हैं ? क्या इस प्रकार का श्रद्धा-विश्वास मोक्ष की ओर ले जाने वाला बनेगा ? क्या भगवान महावीर की आराधना इसी प्रकार कर पाओगे ? क्या इन्हीं चरण-कमलों में कमला का वास समझ लिया है ? विचार कीजिये इस प्रकार की अवस्था रहेगी तो शांति और आनंद की अनुभूति कहाँ कर पाओगे ? संतोष नहीं हो पाएगा। अभी आप शास्त्र सुन रहे थे। एक पद सुना होगा-

**हट्ठ तुट्ठ हियाणंदिया।**

कोई भक्त दर्शन पाता है, वाणी सुनता है तो तृप्ति होती है और वह प्रमुदित होता है। हृष्ट-हर्षित होता है, तुष्ट-संतुष्ट होता है। हियाणंदिया-हृदय में आनंद की अनुभूति हुई है। ये अनुभूति क्या हम कर पा रहे हैं ? हम वर्षों से सामायिक एवं अन्य धार्मिक क्रियाएँ कर रहे हैं, पर मन अभी भी चंचल-अस्थिर बना हुआ है और अस्थिर मन में लक्ष्मी प्राप्त नहीं हो पाती है। जब मन शांत-स्थिर होगा तभी तीर्थंकर देवों के चारित्र रूपी चरण की सही तरीके से आराधना कर पाएंगे और तभी चरणों का स्पर्श हो पाएगा।

मन क्यों चंचल बना हुआ है ? क्यों नहीं सामायिक में लगता है ? वस्तुतः सामायिक के स्वरूप को हमने जाना कहाँ है। हमने तो सामायिक समझा है- मुँहपत्ति बाँध लेने को, ज्यादा से ज्यादा चादर ओढ लेने को। आज बाहर की सामायिक में भी कितना अंतर आ गया है। पहले जहाँ बिना लांग की धोती थी, वहाँ आज तो पायजामा, पेंट, पतलून सब चालू हो गया है। कोई पूछते हैं- पायजामा, चोल पट्टे में करे या न करें ? किसी में करें, पर विधान देखा जाये तो विधान बिना लांग की धोती का ही है। उसी के साथ विधान यह भी है कि उतरने योग्य सारे वस्त्र उतारे जाये, जैसे- बनियान, कोट, स्वेटर आदि। आज तो बनियान पहने हैं, ऊपर चादर ओढ ली। पता नहीं ये रूप कैसे बन जाते हैं ? कुछ भी पहन लो, यह तो पौशाक है किन्तु जब तक अंतर भावों में परमात्मा के प्रति, शुद्ध आत्मा के प्रति, अनुभूति नहीं बनेगी तब तक बाहर से सामायिक विचलित होगी, बोरियत पैदा करेगी। कैसे 48 मिनट पार करें,

यह भी कठिन हो जाता है। कारण क्या है ? कारण यही है कि हमने भीतर के द्वार का उद्घाटन नहीं किया है। द्वार खोलकर अंतर की अनुभूति प्राप्त नहीं की है। कवि कहते हैं- जब अंतर की सम्पत्ति प्राप्त हो जाती है तो बाहर की सम्पत्ति किनारे रह जाती है-दूर किनारे। वह सोचता है ये मेरे लिए संगत नहीं है। यदि चंचल सम्पत्ति को गले लगाया तो वह आज है, कल नहीं। ऐसी चंचला के पीछे व्यर्थ है समय गँवाना। मेरे भीतर में जो स्वरूप है, उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करूँ, यदि उससे प्यार नहीं है तो फिर रोने के अलावा क्या हाथ आएगा ?

**नहीं प्रभु से प्यार, फिर क्या पाएगा ?**
**रोना है बेकार, छूट सब जायेगा ॥टेर॥**
**जितनी जो जोड़ी माया, चाहे जो भवन बनाया,**
**रमणी को घर लाया, पर कितना साथ निभाया ?**
**मन तड़फायेगा.... (1) रोना है....।**
**चाहे तू मन में फूला, पर ज्ञानी कहते भूला,**
**है चार गति का झूला, जिसमें अब तक तू झूला;**
**कहाँ सुख पाएगा.... (2) रोना है....।**
**मन में तू खूब लुभाया, है चार दिनों की छाया,**
**रे चेतन, क्यों भरमाया, क्यों शरण धर्म नहीं आया,**
**फिर पछताएगा.... (3) रोना है....।**

बंधुओं ! व्यक्ति लुभाता है, किन्तु ज्ञानी कहते हैं; जिस चमक-चांदनी में लुभा रहा है वह चार दिन की छाया है, चंचल माया है। जो इसमें भरमाया है, वह अंत में पछताया है। एक झोंका लगा नहीं कि करोड़पति, रोड़पति हो जाता है। कल जो प्रधानमंत्री की सीट पर बैठा था, आज कहाँ है ? पहले जो प्रधानमंत्री-राष्ट्रपति की सीट पर थे, आज वे सामान्य नागरिक बनकर रह गये हैं। इसलिए इतराना मत, भूलना मत कि यह चांदनी चार दिन की है, फिर अंधेरी रात है। चार दिन की चाँदनी से कोई फर्क नहीं पड़ने वाला है। चाँदनी आई तो क्या, गई तो क्या ? कोई फर्क नहीं पड़ता है। कहते हैं- जंबू के घर 99 करोड़ का धन आया, ऐसा कथानक में है। सारी सम्पत्ति नीचे के तलघरों में भवनों में बिखरी पड़ी

है। वह ऊपर के महल में अपनी धर्मपत्नियों के साथ बैठा है, योगी बनकर। इधर प्रभव आता है, सारी सम्पत्ति बटोर लेता है। क्या जंबू चाहते हैं ये सारी रह जाये ? उन्हें संपत्ति से कोई मोहब्बत नहीं है। क्या कारण है ? जो व्यक्ति अंतर की अनुभूति में उतर गया हो उसका क्या ललनाओं में मन पिघलेगा ? जम्बू कुमार समझ चुके थे कि यह चमक चाँदनी चार दिनों की है। न किसी का बचपन कायम रहा है, न जवानी। इनकी रंगत में मुग्ध होना सम्यक् सोच नहीं हो सकती। आठ-आठ रमणियाँ देखकर प्रभव पिघल गया। यदि ऐसी एक रमणी भी हो तो व्यक्ति पागल हो जाता है। वैसी तो क्या, चेहरे पर झुर्रियाँ हों, काली-कलूटी लंगड़ी हो, तो भी व्यक्ति का मोह नहीं छूटता, फिर ऐसी कन्यायें प्राप्त हो जाये फिर भी योगी बनकर बैठा रह जाये ? जम्बू को वे 8-8 कन्यायें हाव-भाव से आकर्षित करती रहीं किन्तु जम्बू को न तो काम भोग की ओर आकर्षित कर सकीं, न धन के प्रति आकर्षित कर सकीं। वह निराला योगी अपनी साधना से, महल में अपनी ओर सबको आकर्षित कर लेता है। उधर वे 500 चोर चौर्य-कर्म छोड़कर, लोभ मोह छोड़कर क्या करने की तैयारी कर लेते हैं ? दीक्षा लेने की तैयारी कर लेते हैं।

चांगोटोला के श्रावकजी कहने लगे कि हमारे यहाँ 8 चातुर्मास सतियों के हो गये, अब संतों का होना चाहिये। मुझसे कहते हैं- आप पधारो ! मैंने कहा- लोग कहते हैं जिधर दीक्षा हो उधर पधारो। कोई आगे आये तो सही। वे कहते हैं- हम चार तैयार हैं। मैंने कहा- बनियों का काम मत करो, क्योंकि ऐसी बातों से संत धोखा खा चुके हैं। डेह के श्री घोड़ावतजी एक बार संतों की सेवा में पहुँचे। कहने लगे- महाराज ! हमारे गांव में कोई संत आते ही नहीं। आप पधारो। हमारे गांव चातुर्मास करें तो हम निहाल हो जायेंगे। संतों ने पूछ लिया संत के चातुर्मास करने से क्या उपलब्धि होगी ? उन्होंने कहा- आप चातुर्मास करो, मैं घर छोड़ दूंगा। महाराज ने सोचा उपकार का काम है और उन्होंने चातुर्मास कर लिया। जय-जयकारों के साथ प्रवेश हो गया। उन्होंने चार महीने कभी महाराज का मुँह नहीं देखा। जब विहार हुआ तो वे विहार में शामिल हुए। उन्हें देखते ही संतों ने कहा- क्या बात है ? आपने कहा था, मैं घर छोड़

दूंगा ? वे कहने लगे- मैं उसी में लगा था। अब तक मैं किराये के मकान में रह रहा था, उसे छोड़ना था, मकान बनाने में लगा था। आपने चातुर्मास किया, मैंने घर छोड़ दिया।

चांगोटोला वाले कहते हैं- प्रॉमिस करते हैं, पक्का करते हैं। वे बतला रहे थे कि प्रतिदिन प्रार्थना के लिए भवन में इकट्ठे होते हैं। 15-17 बच्चे प्रतिक्रमण में इकट्ठे होते हैं। बूढे-जवानों की बात जाने दीजिये। शहर के बच्चे कितने इकट्ठे हो पाते हैं ? उन्हें परमात्मा की प्रार्थना की आवश्यकता नहीं। पहले ही बड़ी-बड़ी हवेलियाँ मिल गई है। जौहरियों का धंधा है, रत्नों से खेलते हैं। जयपुर के बच्चे कितने प्रार्थना में, संत दर्शन में उपस्थित हो पाते हैं ? कोई कहेंगे स्कूल जाना है, ऑफिस जाना है, किन्तु छोटे गाँवों में बच्चों में कैसी भावना होती है ? हालांकि हर छोटे गाँव में नहीं। बहुत कम गाँव मिलेंगे, जहाँ बच्चे प्रार्थना में, प्रतिक्रमण में इकट्ठे होते हैं। यह वे ही करते हैं जिन्हें अंतर की लगन लग जाये। हमने स्वयं ने देखा है- 200-200 बच्चे दया करने में, सामायिक प्रतियोगिता में भाग लेते हैं। आज के बच्चे भूल गये प्रार्थना किनकी करनी चाहिये ? वहाँ तो उठते ही स्कूल जाने की हड़कंप, घर पहुँचे तो टी.वी. सामने। टी.वी. का मोह छोड़ नहीं पाते हैं। ये स्थिति बनी रही तो आज तो लालभवन में चोरड़ियाजी, मूथाजी आदि 5-7 जने दिख भी जाते हैं, पर आने वाले समय में कितने दिखेंगे ? आने वाली पीढ़ी को समय रहते धर्म-सम्पदा नहीं दी गई तो बड़े-बड़े शहरों की हालत विचित्र हो जायेगी। और बातें सुनते हैं तो विचार आता है कि बड़े-बड़े कुल के युवक-युवतियों को क्या हो गया है ? जयपुर में हुआ है यह तो पता नहीं, पर कई शहरों में ऐसे कड़वे अनुभव होते रहे हैं कि उत्तम कुलों की लड़कियाँ विधर्मियों के साथ जा रही है। क्यों जा रही है ? धर्म के संस्कार नहीं मिले इसलिये। प्रारम्भ से यदि परमात्मा की प्रार्थना से जोड़ा जाता तो शायद ऐसे दिन देखने की नौबत नहीं आती। लड़कियाँ ही इधर-उधर भाग नहीं रही हैं, लड़के भी इतर जातियों में शादी करने लगे हैं। माता-पिता बैठे रहो। न तो दहेज चाहिये, न बारात ले जानी है। कोर्ट में गये, हस्ताक्षर किये और शादी करके आ गये। रखना है तो रखो, नहीं

तो हम अपनी दुनियाँ अलग बसा कर रहेंगे। ये बातें बड़े-बड़े शहरों में सुनने में आती है। पर ऐसी बातों से कितने श्रावकों की नींद में दखल पड़ रहा है ? मत भूलिये कि आज जो आँधो पड़ोसी के घर है तो कभी उसका झोंका आपके घर तक भी आ सकता है। किन्तु यदि संतों का सानिध्य रहा तो सुरक्षा रहेगी। एकाएक गड़बड़ी हो नहीं पाएगी। हमारे पैर यदि संस्कृति में टिके रहे, हम समय रहते चेत गये और धर्म की शरण को स्वीकार कर लिया तो आने वाले समय में पछताना नहीं पड़ेगा और सुरक्षित रहेंगे।

25.09.2000

# 3. पा ले मनवा गुण-मकरंद

भ्रमर पुष्पों पर गुंजार करता हुआ पहुँचता है, पुष्पों पर बैठता है, उनका पराग लेता है, उड़ जाता है, किन्तु उसे चैन नहीं पड़ता। पुष्प का पराग लेकर उड़ता तो है, किन्तु पुनः आकर पुष्प पर बैठ जाता है। थोड़ी देर फिर पराग लेता है, फिर उड़ता है, परन्तु पुनः फूल पर आ बैठता है और पराग लेने में मशगूल हो जाता है। इसी प्रकार परमात्मा के चारित्र रूप चरण कमलों का मकरंद लेने में भक्त इतना निमग्न हो जाता है कि उसे अन्यत्र कहीं चैन नहीं पड़ता। वह संसार में सक्रिय भी होता है, किन्तु संसार-चर्या से ऊबकर पुनः परमात्मा के चरणों में मकरंद लेने जा पहुँचता है। यही कारण है कि सम्यक्दृष्टि आत्मा के लिए कहा गया है-

**अहो समदृष्टि जीवड़ा, करे कुटुम्ब प्रतिपाल।**
**अन्तर्गत न्यारो रहे, ज्यूं धाय खिलावे बाल॥**

अंतर में तो वह उसी मकरंद रस से छका रहता है, परन्तु बाहर से परिवार का पालन भी करता रहता है। व्यावहारिक जीवन में कर्त्तव्यों का निर्वाह करता हुआ भी वह अंतर में जिनेश्वर के चरणों के मकरंद के पान के लिये लालायित बना रहता है।

वंधुओं ! कवि आनन्दघनजी प्रार्थना करते हुए कहते हैं-

**मुझ मन तुझ पद पंकजे रे,**
**लीनो गुण मकरंद....।**

हे भगवन् ! मेरा यह भ्रमर मन, कितनी सार्थक उपमा ढूँढी है कवि ने ! जैसे भ्रमर थोड़ी देर वैठकर उड़ जाता है, वैसा ही मेरा मन भ्रमर की तरह चंचल है, पराग पाने वैठता है और पराग लेता है, फिर जव तृप्ति का अनुभव करता है तो उड़ जाता है, किन्तु उसे अन्यत्र कहीं चैन नहीं पड़ता तो आपके चरणों में ही अनुरक्त वना हुआ मन पुनः उन्हीं

चरण कमलों में आ बैठता है। आपके चरण कमल यथाख्यात चारित्र के रूप, क्षायिक भावों के मकरंद से इतने परिपूरित हैं, इतने विकसित हैं कि वह मकरंद एक नहीं, अनेकानेक भ्रमर लेते रहें तो भी उस मकरंद का अभाव नहीं आयेगा। वह मकरंद प्राप्त करने के लिये मेरा ये मन इतना अनुरक्त हुआ कि उसके सामने सभी सांसारिक आकर्षण प्रभावहीन हो गये हैं। यदि मूल्यांकन करें तो उसके सम्मुख-

**रंकगणे मन्दर धरा रे।**

मन्दर अर्थात् मेरु पर्वत, जो स्वर्ण का पर्वत है और एक लाख योजन विस्तार का है, वह भी तुच्छ है। विचार करिये, कितना स्वर्ण होगा ! नीचे से ऊपर तक पूरा सोने का बना हुआ है ! एक सोने का बिस्कुट मिल जाये तो ही व्यक्ति पागल बन जाता है और कई बार उस सोने के पीछे बेभान हो जाता है। इसलिए तुलना करते हुए बताया है कि परमात्मा के चरणों का मकरंद प्राप्त करने के लिये जो मन उतावला भी बन जाता है, उसके सामने कोई मेरु जितना स्वर्ण भी रख दे तो वह भी उसके लिये तुच्छ है।

'रंकगणे मन्दर धरा रे.....।' रंक का अर्थ है- दरिद्र, तुच्छ। वह मेरु पर्वत को भी तुच्छ गिनता है। मेरु पर्वत पर नन्दनवन की कल्पना भी की गई है, जहाँ किसी प्रकार की कोई कमी नहीं है, पांचों इन्द्रियों की विषय सामग्री जहाँ प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है और उसका कभी अभाव नहीं होता, ऐसे नन्दनवन युक्त मेरु पर्वत का स्वर्ण भी उस चरण-कमल-मकरंद की तुलना में तुच्छ है।

दूसरी दृष्टि से चिन्तन करें तो स्वाध्याय के लिए कहा गया है कि तीर्थंकर देवों की वाणी का आस्वाद जितनी बार स्वाध्याय के रूप में करेंगे, उतनी ही बार नयेपन की अनुभूति होगी और उतना ही अधिक आनन्द और संतोष प्राप्त होगा। हर बार पहले जो स्वाद ले चुके हैं, उससे भिन्न स्वाद उसमें प्राप्त होगा। यह वात अलग है कि किसी को बुखार हो, जिह्वा कड़वी हो, तो मधुर रस में भी वह कटु की अनुभूति करे। यह उस रुग्ण अवस्था का परिणाम होगा जो अस्वस्थ मानसिक स्थिति के

कारण उत्पन्न होती है। अन्यथा जैसा कवि ने कहा है, वह भ्रमर की भाँति निमग्न हो जायेगा और श्रवण के रसास्वादन से मुग्ध वहाँ से हट ही नहीं पायेगा। कोई वुलाने आये या कहे- ''उठो'', तो भी वह उठने को तैयार नहीं होगा।

कृष्ण वासुदेव, गजसुकुमाल को भगवान अरिष्टनेमि के दर्शन कराने ले गये। दर्शन करके भगवान अरिष्टनेमि की देशना उन्होंने सुनी। देशना के स्वरों ने कर्ण रंध्रों में कुछ ऐसा अमृत उड़ेल दिया कि सारी परिषद तो उठकर चली गई, किन्तु गजसुकुमाल उस अमृत में तन्मय हुए बैठे ही रह गये। अब तक जो सुना था उसी को पुनः पुनः सुन रहे थे। बजे हुए टेप को पुनः पुनः चला रहे थे। वह भी चलती जा रही थी और वे सुनते जा रहे थे। ऐसा नहीं कि निठल्ले बैठे रह गये थे। जो भगवान ने देशना दी थी वह देशना अंतर में लगातार प्रतिध्वनित हो रही थी। उन्होंने केवल कानों से नहीं सुनी थी, दिल से सुनी थी। वहीं अनुगूंज उन्हें तृप्ति दिलाने वाली बन रही थी। फिर ध्यान जव भंग हुआ, देखा परिषद जा चुकी थी। तब जैसे कोई मदमत्त बेभान-सा बना किसी दिशा में चल पड़ता है, वैसे ही मुग्ध बने गजसुकुमाल अरिष्टनेमि भगवान के चरणों में पहुँचकर निवेदन करने लगे- ''भंते ! संसार सागर में यदि कोई तिराने वाला है, तो आप हैं। मेरी नैया डूब रही है, यदि किसी का सहारा है तो आपका ही है। आप ही मेरी नैया पार लगा सकते हैं।''

वंधुओं ! तत्पश्चात् माता से अनुमति लेकर वे साधु-जीवन स्वीकार कर लेते हैं। लगन इतनी तीव्र थी कि अरिष्टनेमि भगवान से उन्होंने निवेदन किया- ''भगवन् ! ऐसा साधना का मार्ग वताइये कि मैं जल्दी से जल्दी संसार सागर से पार जा सकूं।'' जगती है कभी हमारे मन में भी वैसी भावना ? आता है कभी विचार कि छोड़ूं इस अलीते-पलीते को ? उनकी कथा सुनते हैं तो हमारा मन उछाले खाने लगता है पर वह मेंढक की तरह ही उछल पाता है और फिर वात वहीं की वहीं रह जाती है। किन्तु गजसुकुमाल कहते हैं- ''ऐसा मार्ग वतलाइये, जिससे संसार सागर से तिर जाऊँ और वहुत जल्दी तिर जाऊँ।'' भगवान ने भी उनको

मार्ग दिखाया। क्या मार्ग दिखाया ? महाकाल श्मशान का। वे चले गये। महाकाल नाम से ही व्यक्ति का हृदय प्रकंपित हो जाता है, किन्तु जिसका दिल दीवाना बना हो और जो आत्मा की अनुभूतियों और आत्मा के आनंद का रस पीकर मुग्ध बना हो ऐसा व्यक्ति विरला हो जाता है। ऐसे दीवाने बने थे गजसुकुमाल मुनि। वे महाकाल श्मशान में चले गये। उन्होंने साधना की, अरिहंत बने, सिद्ध बने। कहते हैं तीर्थंकर किसी को भले तीर्थंकर नहीं बना सकते हों, पर सिद्ध बना देते हैं। उनकी देशना से अनेकानेक भव्य आत्माएँ तिर जाती हैं, किन्तु इससे विपरीत अवस्था संसार में रुलाने वाली बन जाती है।

कभी-कभी चिन्तन चलता है कि ये सारी बातें जिस रूप में कही गई हैं, उसके पीछे कारण क्या है ? क्या परमात्मा की भक्ति परमात्मा को अपनी तरफ आकर्षित करने के लिए होती है। साथ ही यह जो कहा जाता है कि देव-गुरु-धर्म की अवज्ञा नहीं करनी चाहिये। क्यों नहीं करनी चाहिये ? यह प्रश्न सहज ही उत्पन्न होता है। क्या आशातना का भय दिखाकर उस तरफ अनुराग बनाये रखने की चाहत है ? क्या कारण है जो ऐसा कहा जाता है ? इस पर यदि विचार करें तो बहुत गहरा विज्ञान है इसके पीछे। विज्ञान इसे सिद्ध भी कर चुका है। यदि हमारे भीतर पॉजिटिव या अनुकूल विचारधारा चलती है तो हमारे भीतर की माँसपेशियाँ, कोशिकाएँ, ज्ञानतंतु विकसित होते हैं, खिल जाते हैं। वैज्ञानिकों ने ऐसे प्रयोग वनस्पति पर भी किये हैं। डॉ. जगदीशचन्द्र वसु एवं वेंकस्टन ने जो प्रयोग किये, उनसे यह सिद्ध हुआ कि वनस्पति में भी ऐसी प्राण-चेतना-संवेदनशीलता मौजूद है कि यदि उसका गुणगान करो तो उसमें फैलाव होता है और इसके विपरीत व्यवहार किया जाता है तो कहा जाता है- मोडों, तोड़ डालो, रौंद दो, तो उसमें प्रकंपन होता है, वह संकुचित होती है और मुरझा जाती है। इस सत्य को हम समझ नहीं पाते हैं। नहीं समझने के कारण आरंभ में रचे-पचे रहते हैं। अपने मौज-शौक के लिए कितने प्राणियों का घात किया जाता है ! मौज-शौक के लिए बंगलों में जो लॉन लगा रहता है उसे नियमित रूप से काटा जाता है कि वह मखमल की तरह कोमल रहे। मन में यह विचार नहीं आता कि मेरे

चलने से उन बेचारे अव्यक्त चेतना वाले जीवों को जिनमें संवेदन शक्ति है, कितनी पीड़ा होती होगी ? कितनों के प्राण विसर्जित हो जाते होंगे ? हम मौज-मस्ती में कितने आरंभ से जीवन को जोड़ते चले जाते हैं। बिना ऐसे आरंभ के भी हमारा काम चल सकता है। पर सिर्फ मौज-शौक के लिए हम ऐसे आरंभ करते हैं और दिल बहलाव करते हैं। ऐसा दिल का बहलाव बहकाने-भटकाने वाला बनता है और परमात्मा के चरणों से प्राप्त होने वाले मकरंद से व्यक्ति को वंचित कर देता है। शास्त्रकारों ने कहा है-

**ण यावि मोक्खो गुरु हीलणाए....।**

देव-गुरु-धर्म की यदि असातना करते हो तो तुम्हें मुक्ति नहीं मिलेगी। आज का व्यक्ति तर्क करेगा कि जिन गुरुओं ने ग्रंथ रचे हैं वे चाहते होंगे कि हमारी पूजा-प्रतिष्ठा कायम रहे इसलिए भोली जनता को भरमाने के लिए लिख दिया कि- देव-गुरु-धर्म की अवज्ञा नहीं करनी। पर यथार्थ में चिन्तन करें- असातना क्या होती है ? 'सातना' अर्थात गिराना, 'अ' अर्थात् चारों तरफ से गिरायें, ताकि कोई कोना न बचे। गिरे तो ऐसे गिरे कि बचने को कोई तिनका भी हाथ न आये। नहीं तो डूबते को तिनके का भी सहारा होता है। पर असातना चारों तरफ से गिराती है, जिससे डूबता-गिरता हुआ व्यक्ति अपने को बचा भी न सके। आप कहेंगे ऐसा कैसे होता है ? मैं अभी व्यक्त कर गया था कि हमारे भीतर प्रफुल्लता का भाव हो तो हृदय कमल विकसित होता है और अवसाद का भाव हो तो कोशिकाओं, ज्ञान तंतुओं में संकुचन होता है। तब आध्यात्मिक जीवन का जो कमल विकसित होना चाहिये, जिसका फैलाव होना चाहिये, वह कुंठित हो जाता है और कुंठित होते-होते इतना संवेदनशून्य हो जाता है कि उसमें होने वाले विकास की संभावना समाप्त हो जाती है। इसलिए ज्ञानियों ने कहा है-

**ण यावि मोक्खो गुरु हीलणाए....।**

गुरु की अवज्ञा-तिरस्कार या उनके विपरीत आचरण रहेगा तो व्यक्ति का हृदय कमल कुंठित होगा और उस कुंठा से मकरंद प्राप्त नहीं कर पाओगे। बहुत ज्यादा कुंठित हो गया तो उसे विकसित करने में बहुत

समय लगेगा, वह तत्काल विकसित नहीं होगा। उसे विकसित करने के लिए किये गये प्रयोगों का परिणाम भी अनिश्चित होगा। इस प्रकार स्वयं हम अपना नुकसान करने वाले होते हैं।

इस संदर्भ में गहराई से विचार करें तो स्थिति पूर्ण तथा स्पष्ट हो जायेगी। देव-गुरु धर्म की ही नहीं शास्त्रकारों ने प्राणभूत जीव सत्व की भी असातना नहीं करने की बात कही है। चाहे वे एकेन्द्रिय, बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय या कोई भी प्राणी हों, किसी की असातना करने का यदि तुमने विचार भी बनाया है तो उसका नुकसान होगा या नहीं यह तो नहीं मालूम पर तुम्हारे स्वयं का नुकसान निश्चित रूप से हो जायेगा। हमारे भीतर का कमल कुंठित होगा, विकास प्राप्त नहीं कर पायेगा। इसलिए चिन्तन-मनन करें कि हम क्या कर रहे हैं ? क्या नहीं कर रहे हैं ? आज तो धर्म के क्षेत्र में भी आपाधापी मची हुई है। जाल रचे जा रहे हैं। व्यक्तियों को अनेकों तरह से लुभाया जा रहा है। बड़ी विचित्र बातें सामने आ रही है। बल प्रयोग से धर्मानुयायी बनाने के अनेकशः प्रयत्न किये जा रहे हैं। जिसके पास धन का बल है, वह धन बल से व जिसके पास भुज बल, किंवा बुद्धि बल है तो वह, भुज बल अथवा बुद्धि बल से अनुयायी बनाने में जुटा हुआ है। वर्तमान की ही आपाधापी हालतों में औरंगजेब की याद ताजी हो जाती है।

ऐसे समय में युगदृष्टा, युगपुरुष ज्योतिर्धर आचार्य श्री जवाहरलालजी म.सा. के विचार भटकते धर्मान्धों को सही दिशा दे सकते हैं। बात तब की है जब अंग्रेजों का बोलबाला था। तब उन्होंने स्पष्ट कहा था कि जब गुलामी में पैर जकड़े हैं, जीने का भी अधिकार नहीं है, तो धर्म साधना कैसे करेंगे ? चारों ओर आतंक और असंतोष है तो धर्म कैसे पल्लवित होगा। इसके लिए राष्ट्र धर्म, ग्राम धर्म आदि की व्यवस्था आवश्यक है। उन्होंने बताया था कि यदि ग्राम की, राष्ट्र की और उन्हीं के साथ यदि कुल धर्म, गण धर्म, संघ धर्म आदि की स्थितियाँ अनुकूल नहीं होंगी तो शांति की श्वांस नहीं ले पाएंगे, न ही परस्पर का सौहार्द्र भाव रह पायेगा। बल्कि सौहार्द्र भाव में ऐसे काँटे बो देंगे कि उन्हें आँखों से निकालना भी

भारी पड़ेगा। इसीलिए कभी-कभी कहा जाता है-

**गुरु कीजे जानकर और पानी पीजे छानकर।**

पर यह तोता रटन्त की तरह नहीं होना चाहिये कि- "बिल्ली आये तो बचते रहना।" इसीलिये पूज्य गुरुदेव फरमाया करते थे-

**एक आने की हांडी लावे, ठोला मारे चार।**

उसे भी चार ठोले देकर खरीदते हैं, किन्तु आज धर्म के मामले में हमारी क्या स्थिति बन रही है इस पर विचार करें ? पहले कभी ऐसी स्थिति भी थी कि जिसने पैसा फेंका, लोग उधर। पैसे के बल पर इंसान बिकता ही रहा है, पर जिसमें अपनी सोच-समझ नहीं है, वही बिकता है। व्यक्ति को गुमराह करने की स्थितियाँ भी बनती हैं। ऐसे गुमराह करने से धर्म की आराधना न हुई है, न होती है। ये बात जरूर है कि कृष्ण ने धर्म दलाली की थी पर उसके पीछे स्वार्थपरता या दुर्भावना नहीं थी। उन्होंने कहा- जो भी साधु जीवन स्वीकार करना चाहे वह तैयार हो जाये। वह पीछे की चिन्ता नहीं करे, मैं निर्वाह करूंगा। यह नहीं कहा कि ले तू पैसा, बन अरिष्टनेमि का चेला। ऐसा काम कृष्ण ने नहीं किया। अतः हम भी चिन्तन-मनन करें। हम सुनते बहुत हैं, हम भी बोल देते हैं। सुनने-बोलने से कार्य सिद्ध नहीं होगा। कार्य-सिद्धि के लिए आचरण महत्त्वपूर्ण होता है। वैसी स्थिति में हम अटक-भटक नहीं सकते। हमारी गति निरन्तर बनी रहेगी। कोई विराम या अवरोध नहीं आएगा। चरैवेति-चरैवेति-चरैवेति, चलते चलो, कोई बाधा आपको रोकने में समर्थ नहीं हो सकेगी। ऐसा लक्ष्य बनता है तो सच्चे अर्थ में परमात्मा की भक्ति हो जाती है। यदि भक्ति करना चाहते हो तो प्रभु से सच्ची प्रीत जोड़ लो, फिर दुनिया में क्या हो रहा है इससे कोई अंतर नहीं पड़ेगा। आप तो प्रीत जोड़ते चलो-

**ज्योत से ज्योत जगाते चलो,**<br>**प्रेम की गंगा बहाते चलो....।**

आज तो इससे विपरीत बात हो रही है-

**हवा के झोंके से ज्योति बुझाते चलो,**
**क्लेश की गंगा बहाते चलो।**

कहीं ज्योति जल रही हो तो लगाओ फूंक- फू-फू-फू और क्लेश की गंगा बहा दो। क्लेश बहाया तो क्लेश का पानी ही मिलेगा और प्रेम की गंगा बहा दें तो प्रेम का पानी मिलेगा।

जैसा करोगे वैसा ही फल आगे आयेगा। कोई दर्पण को चाँटा दिखाएगा तो वह भी चाँटा दिखाएगा। प्रेम की बंशी बजाओगे तो आपके कानों में भी प्रेम की मधुर-ध्वनि पड़ेगी। गाली-गलौज, क्लेश की बातें करोगे तो वही आपके कानों में पड़ेगी। इसलिये परमात्मा के चरणों में पहुँचकर विनय करें। कवि आनन्दघनजी बता गये हैं-

**रंकगणे मन्दर धरा रे....।**

वहाँ का खजाना भी परमात्मा के चरणों में बिखरे खजाने के सामने तुच्छ है। इसलिये हम अटके-भटके नहीं। देव-गुरु-धर्म के स्वरूप को सामने रख गति करें, आगे बढ़ें। उससे जो मकरंद मिलेगा उससे हमारा जीवन धन्य बनेगा।

26.09.2000

# 4. धींग धणी को माथे कियोरे

कवि आनन्दघनजी के एक गीत की कड़ी है-

**धींग धणी माथे कियो रे....।**

मैंने एक अत्यन्त समर्थ पुरुष को अपना स्वामी बना लिया है, अब किसकी मजाल है कि मेरी तरफ आँख उठाकर भी देख ले। तो प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि कैसे हम उस धणी को समर्थ मानें ? और यदि वह समर्थ भी है तो तुम्हें फायदा क्या हो जायेगा ? वे तो वीतरागी हैं, कितनी ही शरण ग्रहण करो, तुम भले उन्हें अपना स्वामी मानो पर वे क्या तुम्हें सेवक मानेंगे ? तुम उन्हें भले स्वामी मानों पर यदि वे तुम्हें सेवक नहीं मानेंगे तो रक्षा कैसे होगी ? फिर तुम कैसे मानकर चलते हो कि तुम्हारी ओर किसी की भी अब आँख उठाकर देखने की हिम्मत नहीं होगी ?

**समरथ साहिब तू धणी रे....।**

वे समर्थ हैं, उनके सामर्थ्य का अनुभव तुमने कैसे किया ? बड़े-बड़े युद्ध हुए और बड़े-बड़े वीरों ने अनेक योद्धाओं को मौत के घाट उतार दिया। वासुदेव के लिए कहा है कि वे युद्ध में शूर हैं। दुनिया में किसी के सामने यदि अधिक से अधिक युद्ध का अवसर आता है तो वे वासुदेव ही हैं। हालांकि चक्रवर्ती छः खंड के अधिपति होते हैं, छः खंड साधते हैं, किन्तु जितने युद्ध वासुदेव को करने पड़ते हैं, उतने चक्रवर्ती को नहीं करने पड़ते। यह उनकी पुण्यवानी कही जा सकती है और चक्ररत्न के प्रवर्तन से अनेक राजा स्वतः उनका आधिपत्य स्वीकार कर लेते हैं। तेरह स्थानों पर तेले करने होते हैं और उन-उन विकट स्थानों में, विकट परिस्थितियों में देव सहयोग करते हैं। हालाँकि वासुदेव को भी देव सहयोग करते हैं, फिर भी उन्हें बहुत युद्ध करने होते हैं। एक-एक

वासुदेव अपने जीवन में अनेक योद्धाओं को धराशायी कर देते हैं, फिर भी उनका सामर्थ्य नहीं कि वे नरक टाल सकें। बड़े-बड़े योद्धाओं को धूल चटा सकते हैं पर नरक टालने में समर्थ नहीं है। कितनी भी वीरता हो पर स्वयं के नरक को टालने की क्षमता नहीं है।

थावच्चा पुत्र दीक्षा की तैयारी करने लगे। अरिष्टनेमि भगवान से प्रतिबोध को प्राप्त हुए। विचार बना, संसार में मुझे नहीं रहना है, संयमी जीवन स्वीकार करना है क्योंकि संयम जीवन सार है और दुनिया में सभी चीजें निःस्सार हैं, उनमें कोई सार नहीं है। कब लगेगा ये ? थावच्चा ने एक व्याख्यान सुना और दुनिया के सारे पदार्थ सारहीन लगने लगे। एक हम हैं कि दूसरों को सुनाते हैं कि संसार में कुछ नहीं है, पर क्या स्वयं की आत्मा को भी सुना पाते हैं ? सुनाते भी होंगे, किन्तु उसके बावजूद भी मोह की सांकलों में, मोह के धागों में उलझे हैं। जैसे कमल-नाल में भीतर तन्तु फैले होते हैं वैसे ही हमारे भीतर मोह के रेशे ऐसे उलझे हैं, उनकी जड़ें इतनी गहरी है कि स्वयं को ऊपर उठाना चाहें, संसार को असार मानकर छोड़ना चाहें तो भी छोड़ नहीं पाते हैं। जो लोग तैयारी भी कर लेते हैं वे भी कहते हैं कि दायित्व हैं, कैसे छूटें ? एक बार उत्साह उठता है फिर ठंडा हो जाता है। भावना उमड़ती है पर वेग लेकर छलांग लगाने की हिम्मत नहीं बन पाती है। कहीं पैर न टूट जाये ! कभी कूदने की प्रतिस्पर्धा हो, छलांग लगाने का मौका भी आये और वहाँ भी व्यक्ति छलाँग लगाने से हिचक जाये तो छलाँग नहीं लगा पायेगा। ऐसी ही दशा संसार के कई भाईयों की बनी हुई है। किन्तु थावच्चा पुत्र में ये भावना जग गई कि मुझे तो संसार छोड़ना है। माता ने बहुत समझाया और उनके एक ही पत्नी नहीं थी। बत्तीस रमणियाँ छोड़ने में उन्हें कितनी देर लगी ? बिल्कुल नहीं। जब निश्चय कर लिया कि अब मुझे संसार में नहीं रहना है तो माता को समझाया और आगे बढ़ गये। माता जब किसी भी उपाय से उन्हें इस संसार में रोकने में समर्थ नहीं हो पाई तब कृष्ण-वासुदेव के पास पहुँची, कहा- मेरा पुत्र जिसका नाम-गोत्र श्रवण भी दुर्लभ है, जो अब तक पुण्यवानी के कारण ऐश्वर्यपूर्ण जीवन व्यतीत कर रहा था वह संसार का त्याग कर दीक्षा स्वीकार करने जा रहा है। मैं उसका

दीक्षा-महोत्सव मनाना चाहती हूँ। उसके लिए मुझे सम्मान के साधन-छत्र, चँवर आदि राज्य की ओर से मिलने चाहिये। इसकी अनुमति मुझे प्रदान करें। उस समय हर व्यक्ति छत्र धारण नहीं कर सकता था, हर एक को चँवर डोलाये नहीं जाते थे। सम्राट से अनुमति लेनी होती है। कृष्ण-वासुदेव ने जाना कि थावच्चा तैयार हो रहा है तो स्वयं चलकर थावच्चा के घर पहुँचे। पहुँचकर कहा- अरे ! भाई क्या बात है ? भरी जवानी में दीक्षा की बात क्यों सोच रहे हो ?

कब लेनी चाहिये दीक्षा ? जवानी में। और यदि कोई बुढ़ापे में तैयार हो जाये तो ? बुढ़ापे में भी ऐसी कोई बात नहीं कि दीक्षा नहीं ली जा सकती है। कई ऐसे-ऐसे वृद्ध पुरुष आचार्यदेव के चरणों में दीक्षित हुए हैं, जो 75-76 वर्ष के थे, परन्तु संयमी जीवन स्वीकार करके साधना की और आचार्यदेव ने भी उन्हें वृद्धावस्था में साधु जीवन देकर सेवा-सुश्रुषा के माध्यम से सहयोग दिया। परिणामस्वरूप जिस उद्देश्य से वे घर-त्याग करके आये थे, उसमें सफल हुए और उसी भावपूर्वक आत्म-साधना में पार लगे। शास्त्रकार कहते हैं-

**पच्छा वि ते पयाया।**

जिनमें तप, ब्रह्मचर्य, क्षमा आदि गुण हैं, उनमें जितना मन लगा है, वे पिछली अवस्था में भी संयमी जीवन स्वीकार कर आत्मा को ऊर्ध्वगामी बना सकते हैं।

कृष्ण-वासुदेव ने कहा- थावच्चा ! अभी जल्दी क्या है ? उसने कहा- मैं आपकी बात मानता हूँ, आज्ञा कीजिये। कृष्ण ने पुनः कहा- "तुम्हें कोई तकलीफ हो, तुम्हारा कोई शत्रु हो, कोई व्यथा हो तो बताओ। मैं सभी समस्याओं का निवारण करूँगा।" सारी बातें सुनने के बाद थावच्चा पुत्र ने कहा- "मेरे दो शत्रु हैं। उनसे यदि आप स्वतंत्र करा दें, मुझे आश्वस्त करें कि वे दो शत्रु मेरा कुछ भी नहीं बिगाड़ेंगे तो मैं एक समय के लिए साधु बनने के विचार का त्याग कर सकता हूँ।" कृष्ण ने कहा- नाम तो बता दो, अभी तुम्हारे चरणों में लाकर पटकता हूँ।" उसने बता दिये नाम- "बुढ़ापा और मृत्यु। इन दो से यदि बचा सको....।" बचा

पाएंगे ? चाहे कोई कितनी भी संपत्ति देने को तैयार कर ले, मौत से कहे एक क्षण रूक जा, लाखों रुपये देने को तैयार हो जाये, तो क्या मृत्यु एक क्षण रुक जायेगी ? नहीं रुकेगी। अरबों-खरबों कमा लिये, परन्तु एक क्षण के लिए भी मौत को रोक न सके तो वे लाखों-करोड़ों क्या काम आये ? धरे के धरे रह गये। रुपये के बल पर व्यक्ति झगड़े फैला सकता है, अन्य कोई कार्य कर सकता है, पर आने वाली मौत को एक क्षण भी नहीं रोक सकता। चाहे भले तीर्थंकर हों, मृत्यु को रोक नहीं सके, सिद्ध बन गये। दूसरी तरफ सारी दुनिया काम, क्रोध, ईर्ष्या से परेशान है। इनके सामने सभी घुटने टेक देते हैं। ये शत्रु प्रबल हैं। इन पर विजय पाना आसान नहीं है। बड़े-बड़े योद्धा काम-क्रोध पर विजय नहीं प्राप्त कर पाते हैं, किन्तु केवली, तीर्थंकर अरिहंत में इतना सामर्थ्य जागृत होता है। वे इन पर विजय प्राप्त कर चुके होते हैं। इसलिए कवि कहते हैं कि प्रभु आप ही दुनिया में समर्थ हैं।

जब तक आत्मभाव का जागरण नहीं होता तब तक ही क्रोध परास्त करता है, पर आत्मशौर्य जागृत हो जाये तो ये काम-क्रोध टिक नहीं पाते। व्यवहार में यदि कोई समर्थ पुरुष की शरण स्वीकार कर लें तो उसकी रक्षा के दायित्व का वह निर्वाह करता है। वीतराग देव उत्तर दें या ना दें पर हमारी शुद्ध आत्मा उत्तर देती है कि तुमने शुद्ध स्वरूप देख लिया है, अब तुम्हें घबराने की जरूरत नहीं है। अब ये काम-क्रोध तुम्हारा कुछ भी बिगाड़ नहीं सकते क्योंकि तुमने शुद्ध आत्मा की शरण स्वीकार कर ली है। अब उसमें सामर्थ्य आ गई है। अब भले वह समर्थ व्यक्ति सम्मुख न हो पर यदि उसका आदेश या कृपा प्राप्त है तो कोई भी स्थिति पास फटक ही नहीं सकती। उसका अन्तर भाव व्यक्त होता है कि-

**साहेब ! समरथ तुं धणी रे पामियो परम उदार**
**मन विश्रामी वाहलो रे आतम चो आधार....**

मेरा जीवन धन्य बन गया। मन विश्रामी....। मेरे मन को विश्राम देने वाला है। अब तक मन विश्राम की नींद नहीं ले पाया था। चाहे हम साधना में बैठ गये, चाहे सामायिक करके चल रहे हैं, पर एक क्षण भी

उसे विश्राम नहीं था। ऐसी स्थिति में निरन्तर चक्की चलती रहती है। सत्-असत् हर तरह की कल्पनाएं वह चलाता रहता है। प्रत्येक मनुष्य के मन में कितनी ही कल्पनाएं चलती है। वह उन सभी को साकार नहीं कर पाता। अच्छे-अच्छे प्रबुद्ध सज्जन भी प्रतिदिन के चिन्तन में से 15 प्रतिशत का ही क्रियान्वयन कर पाते हैं। 85 प्रतिशत निरर्थक चला जाता है। सामान्य व्यक्ति तो बड़ी कठिनाई से 3-4 प्रतिशत को ही मूर्त रूप दे पाता होगा।

बहुत से व्यक्ति सोचने में समय लगा देते हैं। पर क्रियान्विति के क्षणों में साहस नहीं कर पाते। स्वाध्याय सेवा भी एक उपक्रम है। पर उसमें भी कितने लोग सहभागी बन पाते हैं। आप सुन रहे थे कि स्वाध्यायियों ने इस वर्ष 141 स्थानों पर समता प्रचार संघ के माध्यम से सेवा दी है। हमारे बीच और भी अच्छे-अच्छे वक्ता हैं जो स्वाध्यायी बनकर धर्म का संदेश पहुँचा सकते हैं। ऐसे बहुत से प्रबुद्ध व्यक्ति समाज में मौजूद है, किन्तु हमारी पैनी निगाहें, उन तक पहुँच नहीं पाई हैं। इसलिए बहुत से कार्यकर्त्ता, बहुत से प्रबुद्ध व्यक्ति, हमारी निगाहों से ओझल हैं। आवश्यकता है कि जो ऐसी विभूतियाँ, ऐसे समर्थ व्यक्ति, हमारी निगाहों से ओझल हैं या जिन्हें हम ओझल किये हुए हैं, उनका परिचय प्राप्त करें। स्वाध्यायी वर्ग का एक-एक प्रबुद्ध व्यक्ति, अलग-अलग क्षेत्रों में धर्म की अलख जगाने में समर्थ है। स्वाध्यायियों के विकास हेतु 2 वर्षों से प्रयत्न भी हुए हैं। उन्हें उदारता से समय भी दिया गया पर अपने संकोची स्वभाव के कारण उन्हें पूरी सफलता नहीं मिल सकी। स्वाध्यायियों का चिन्तन प्रखर हो इसलिए पत्र वाचन कार्यक्रम भी किये गये। ये वात अलग है कि उसमें कई स्वाध्यायी भाग नहीं ले पाये। समय की कमी या अन्य कारणों से जैसे पारिवारिक दायित्व के निर्वाह की विवशता के कारण ऐसी स्थितियाँ वनी, परन्तु उन्हें विपय दिये गये कि वे उन विपयों पर निबंध तैयार करें और उनका जनता के वीच वाचन करें। मैंने भी कहा आप स्वाध्यायियों को तैयार करिये। हम व्याख्यान गौण करेंगे और जनता के वीच उन्हें अपनी प्रतिभा का परिचय देना चाहिये। वे प्रतिभायें जहाँ भी जायें वहाँ धर्म का प्रतिपादन कर धर्म के प्रति श्रद्धा

एवं समर्पण के भावों से लोगों को परिपूरित कर सकें। मैं चाहता हूँ कि हर तीन महीने में ऐसे कार्यक्रम हों, ताकि समाज में जागरण उत्पन्न हो सके। समाज में कार्य करने के लिए कितने ही कार्यकर्त्ताओं की आवश्यकता है। ये न समझिये कि आप अपने तक ही सीमित हैं, परिवार का भी दायित्व है। इससे समाज का भी उपकार होगा, अतः उस दायित्व का निर्वाह करें। समाज कितना भी समर्थ हो, पर कार्यकर्त्ताओं की आवश्यकता तो हर समय रहती है। हमारा ऐसा चिन्तन हर समय रहना चाहिये। कार्यकर्त्ताओं की कमी नहीं है, पर उनके कार्यों का संकलन नहीं है, जानकारी भी नहीं है। इसलिए वे समाज के पटल पर उभरकर नहीं आ पाते हैं। आवश्यकता है समाज के अनुरूप नये-नये कार्यकर्त्ताओं को तैयार करें। यदि ऐसा नहीं किया तो आप स्वयं कब तक समर्थ रहकर कार्य कर पाएंगे ? शरीर का तकाजा होता है। इसलिए कार्यकर्त्ताओं की आवश्यकता को नकारा नहीं जा सकता।

एक बात और समझ लें, कार्यकर्त्ता ऐसे तैयार नहीं होते। उन्हें तैयार करना पड़ता है। जैसे कई बीमार डरते हैं, दवा नहीं लेते, उन्हें तैयार करना पड़ता है। इसी तरह कई लोग चिट्ठी-पत्री से तैयार नहीं होते। उन्हें प्रत्यक्ष आदि के रूप में तैयार करना होता है। एक बात और है वह यह कि समाज के काम में वाहवाही नहीं मिलती। सौ काम अच्छे हों तो भी वाहवाही मिले जरूरी नहीं। परन्तु दो काम बिगड़ें तो लोग अंगुली उठाने को तैयार हो जाते हैं। पर घबराइये मत समाज आपका है। इसमें टांग खींचने वाले बहुत हैं। ऐसा सोचकर काम नहीं करोगे तो कायर कहलाओगे। इसलिये काम करना है। जो चलेगा उसके ठोकर भी लगेगी, वह नीचे भी गिरेगा। किन्तु गिरकर गिरा हुआ ही नहीं रहेगा। गिरा हुआ उठता है, फिर मुस्तैदी से समाज में चलता है। भूलें हो सकती हैं पर इतने मात्र से घबरायें नहीं। त्रुटि करने वाला संशोधन करने वाला भी बनता है। उसे स्वयं बोध हो जाता है कि मेरे से भूल हो गई हैं पूज्य गुरुदेव फरमाते थे कि महात्मा गांधी, जो कांग्रेस के चवन्नी सदस्य भी नहीं थे, अपना मंतव्य प्रस्तुत कर देते थे। कई कांग्रेसी लीडर बात काट देते थे कि आपके विचार पुराने हैं। वर्तमान में ये इतने कारगर नहीं है, किन्तु कुछ समय बाद उन्हें मानना

होता था कि गांधीजी की वह बात कितनी महत्त्वपूर्ण थी। उस समय ध्यान न आये पर कालान्तर में ध्यान अवश्य आकृष्ट होता है। शांत क्रांति के अग्रदूत पूज्य श्री गणेशाचार्य ने श्रमण संघ में व्यवस्था दी जो अमली रूप नहीं ले सकी तो उस पर उन्होंने वक्तव्य प्रस्तुत किये। उन्होंने जो व्यवस्था दी है, उसका पालन होगा उसी के साथ सांभोगिक संबंध भी रहेगा, अन्यथा नहीं। यह भी सत्य है कि कहीं पालन हुआ, कहीं नहीं हुआ। लेकिन कालान्तर में विचार का आंकलन हुआ। तब स्पष्ट हुआ कि एक शिक्षा, एक दीक्षा, एक प्रायश्चित्त का वह रूप जो उस समय समझ नहीं पाये उसकी बड़ी आवश्यकता है।

आचार्यश्री आनंदऋषिजी म.सा. ने युवाचार्य पद पर श्री मधुकर मुनिजी को चादर दी। उस समय के वक्तव्य में उद्धृत है कि उपाचार्यश्री श्री गणेशीलालजी म.सा. के विचार को कोई समझ नहीं पाया पर वह आज भी महत्त्वपूर्ण है। यह समझ लीजिये कि अच्छे विचारों को उस समय व्यक्ति समझें या न समझें पर कालान्तर में वे मार्गदर्शक बन जाते हैं। चाहे कितने ही सामान्य विचार रखें वे विचार काम आ सकते हैं। यह न समझें कि यह मंच अमीरों का मंच है। आप नेताओं के लिए भले अलग मंच की व्यवस्था करते हों पर यहाँ जाजम सभी की एक है।

जवाहराचार्य के अजमेर चातुर्मास में एक भयंकर दुष्काल की स्थिति बन गई थी। कुछ श्रावक चंदा कर रहे थे। एक बुढिया माँजी ने एक रुपया चन्दा दिया। कुछ लोग उपेक्षा से कहने लगे, एक रुपया क्या देना, रहने दे। उसने विनयपूर्वक कहा- मैं भी योगदान करना चाहती हूँ। मेरी सम्पत्ति और साधन यही है। इसे स्वीकार करिये। ये बातें जब पूज्य जवाहराचार्य के कर्णगोचर हुई तो श्रावकों को संबोधित करते हुए उन्होंने कहा- बंधुओं ! ये एक रुपया उसके जीवन का सर्वस्व है। उसके पास जितनी जमा पूंजी थी वह पूरी पूंजी पीड़ितों के लिए दान में देने की उसकी कामना है। वह तुम्हारे हजारों-लाखों के बराबर है। एक व्यक्ति हजार या लाख देता है, पर लाखों की पूंजी घर में पड़ी रहती है। करोड़ भी दे तो कई करोड़ों घर में पड़े रहते हैं, परन्तु एक बुढिया ने बड़ी कठिनाई से रोजी-रोटी में से काटकर न जानें अपनी कितनी आवश्यकताओं

को रोककर, पेट काटकर, जो एक रुपया जमा किया होगा, वह दिया तो समझो पूरी पूंजी दान में दे दी। दान में पूंजी कितनी दी गई इसका महत्त्व नहीं है। महत्त्व रखती है भावना।

स्वाध्यायियों के विषय में यह न सोचें कि इनके परिवार में काम-धंधा नहीं होगा इसलिए शिविर में आते हैं, ऐसी धारणा हो तो निकाल दें उसे। ऐसी धारणा का शिकार नहीं होना चाहिये। आज के युग में निठल्ले भी बहुत हैं, पर वे कुछ नहीं कर पाते हैं। आपका प्रलोभन भी उनके लिए कोई मायने नहीं रखता। अतः स्वाध्यायियों के, उनके त्याग के प्रति आदर भाव होना चाहिये। एक अक्षर का दान देना भी महत्त्व रखता है तो ये तो धर्म का दान करते हैं। शास्त्रों में वर्णन आता है कि- तथारूप श्रमण माहण। श्रमण का अर्थ साधु और माहण का अर्थ श्रावक लिया गया है। उनका नाम-गोत्र-श्रवण भी दुर्लभ होता है। ये मेरे मुँह की बात नहीं है, शास्त्र की बात है। जब नाम-गोत्र-श्रवण से भी निर्जरा होती है, तो उनके सामने जाने तथा तत्त्वचर्चा करने को तो महान् निर्जरा का कारण बताया गया है। अतः उसे जीवन से जोड़कर, जीवन को आगे बढ़ाने का प्रयत्न करें। सेवा करना यह भी साधना का एक मार्ग है, छोटा-मोटा कार्य नहीं। स्थानांग सूत्र में स्पष्ट कहा है- 'जो चतुर्विध संघ की अग्लान भाव से सेवा करता है, वह महानिर्जरा, महापर्यवसान को प्राप्त होता है। ज्ञातासूत्र में बताया गया है- 'चतुर्विध संघ की अग्लान भाव से सेवा करते हुए कर्मों की कोटि खपावे, उत्कृष्ट रसादयन आवे तो तीर्थंकर गोत्र बांधे।' मामूली बात नहीं है। क्योंकि जब एक परिवार में रहते हुए भी कितनी ही ऊंची-नीची बातें सुननी पड़ती है तो समाज के क्षेत्र में पचासों व्यक्तियों की बातें सुननी पड़े तो शिकायत क्यों ? हकीकत में जब हम जिस विषय के महत्त्व को समझते नहीं हैं तो ही उस विषय में शिकायते करते हैं। यदि यह ज्ञात हो जाये कि कितनी भी बातें सुननी पड़े पर उसको सुनकर भी अपने सेवा कार्यों में लगा रहता है, वह महान् निर्जरा करने वाला होता है। उसको महान् लाभ प्राप्त होता है तो मन में शिकायत के भाव बनेंगे ही नहीं। दूसरे शब्दों में यदि कहूँ तो जब जिसने धींग धणी को माथे कर लिया तो फिर ऊँची-नीची बातें

उसका बिगाड़ ही क्या सकती है। अत: आवश्यकता है धींग पुरुष के सामर्थ्य को जानकर यह भी जानें कि यदि उसके पास रहना है तो कैसे रहा जाये ? ऊँचे व्यक्ति के पास रहने की पात्रता भी तो होनी चाहिये। वह पात्रता आ गई तो फिर उसके भीतर ओछापन प्रकट नहीं हो सकता। यह उस धींग पुरुष को स्वामी बनाने का लाभ होगा।

27.09.2000

❖ ❖ ❖

# 5. तलवार की धार पर यात्रा

तलवार की धार पर चलना बहुत दुष्कर माना गया है। बहुत कठिन है इस पर चलना। हर कोई उस पर चलने की हिम्मत कर भी नहीं सकता। कोई साहसी अथवा वीर व्यक्ति ही तलवार की धार पर चलने के लिए उद्दत हो सकता है और जिसने अपने आपको साधने का प्रयत्न किया है ऐसा व्यक्ति ही तलवार की धार पर चलने का विचार कर सकता है। किन्तु कवि आनन्दघनजी कहते हैं, तलवार की धार पर चलना एक समय फिर भी सहज हो सकता है किन्तु चौदहवें अनंतनाथ भगवान की आज्ञा का पालन करना या उनकी सेवा-उपासना कर पाना उससे भी कठिन काम है। सहज तो है ही नहीं। आप सोच सकते हैं कि ऐसी कोई कठिनाई हमें तो नजर नहीं आ रही है, परन्तु कवि कहते हैं-

**धार तलवार नी सोहिली, दोहिली।**
**चौदवाँ जिन तणी, चरण सेवा....।**

उनकी चरण सेवा दोहिली, कठिन है। तीर्थंकर देवों की चरण-उपासना करना सहज काम नहीं है। आज भक्त इसे बड़ा सहज काम समझता है। सोचता है- मंदिर में चले जाओ, अगरबत्ती लगाओ, धूप-दीप कर दो, एक प्रार्थना कर लो, हो गई चरण सेवा। क्या चरण सेवा ऐसी ही होती है ? यदि इतनी सरल होती तो कवि कभी ये नहीं कहते कि तलवार की धार पर चलने से भी कठिन है तीर्थंकर देवों की चरण सेवा।

आप कहेंगे मंदिर नहीं, हम धर्मस्थान में आते हैं। तीर्थंकर देव की उपासना कर लेते हैं। किन्तु जितना हम इसे सरल समझते हैं, उतनी चरण सेवा सरल नहीं है। चाहे कोई धर्मस्थान में जाये, मंदिर, मस्जिद या गिरजे में पहुँचे तो पहुँचने मात्र से चरण-उपासना नहीं हो जाती है। इसी प्रकार नाम-स्मरण या नाम की प्रार्थना करने मात्र से तीर्थंकर देवों की

उपासना नहीं हो जाती है। कवि कह रहे हैं तलवार की धार पर चलने से भी कठिन यह काम है। 14वें तीर्थंकर देव का संदर्भ तो आलंकारिक कथन है। किसी भी तीर्थंकर देव की चरण-सेवा की जाये, वह सहज नहीं है। आप कहेंगे कि गणधर गौतम या जो भी गणधर होते हैं, उन्हें चरण-सेवा का अवसर मिलता है, किन्तु चरण सेवा का स्वरूप क्या है, हमने कभी इस पर भी विचार किया है या नहीं ? एक श्रावक सामायिक-पौषध करता है, साधु संयम लेकर जप-तप नियम से जीवन व्यतीत करता है, किन्तु इतने मात्र से ये मत समझ लीजिये कि चरण सेवा हो जाती है। आपने पूर्व के महापुरुषों से अनेक बार सुना होगा कि बाहर की पोशाक एक बार, दो बार, तीन बार नहीं, कितनी ही बार बदल ली, ये चोले बहुत बार बदले, परन्तु चोले-चद्दर बदलने से सेवा, चरण-सेवा या उपासना नहीं हो जाती। साधु एक जीवन में ही कितनी ही चादरें बदल लेते हैं, फाड़ देते हैं। यदि इन चादरों से ही चरण उपासना होती तो शायद चादरों को नहीं फाड़ते। किन्तु ये चादरें जीर्ण-शीर्ण हो जाती हैं किन्तु इनके फटने पर सेवा-उपासना नहीं फटती। इसलिए स्पष्ट है कि चादर ही चरण सेवा या उपासना नहीं है। सेवा-उपासना तो किसी अलौकिक स्वरूप का ही नाम है। वह अलौकिक स्वरूप ऐसे दिखाई भी नहीं पड़ेगा।

एक चित्रकार ने, जो पहले दलाल था, बड़ी-बड़ी फर्मों की दलाली कर उसने बहुत सम्पत्ति अर्जित कर ली थी। कोई सोच भी नहीं सकता था कि वह एक दिन अचानक घर से रात्रि में गायब हो जाएगा। उसने तो अपने घर को छोड़कर कभी दूसरे घर में नजर भी नहीं डाली थी। दूसरे घर में झांकने की आवश्यकता ही उसे नहीं पड़ी थी। जिसने कभी शराब नहीं पी थी, किसी की बहू-बेटी पर गलत निगाह नहीं डाली थी, गलत आचरण नहीं किया था, उसका अचानक गायव हो जाना चिन्ता का विषय बन गया। सुवह पत्नी उठी, पति को नहीं देखा, लड़के उठे, खोज की, कहाँ गये ? कोई निशान नहीं, कहाँ गये ? कौनसी ऐसी वात हो गई थी ? कोई रेड या सेल्स टेक्स का झंझट भी नहीं था क्योंकि जीवन नीतिपूर्ण ढंग से जी रहे थे, फिर रातों-रात कहाँ भाग गये ? कोई

दु:ख-दर्द भी नहीं था कि आत्महत्या के लिए सोचते। किसी से झगड़ा हो जाये तो सोचे मेरी नामोशी, तिरस्कार, अपमान हो गया और अपमान को झेल न पाने से कई व्यक्ति आत्महत्या की बात सोच लेते हैं, किन्तु ऐसा भी कुछ नहीं था। फिर क्या कारण था ? बहुत खोज की गई, कारणों पर भी बहुत विचार किया गया, पर घर वालों को कुछ भी ऐसा समझ नहीं आया जिससे गोगा को घर छोड़कर जाना पड़ता। तो क्या दिशाभ्रमित हो गया था ? बहुत चिन्तन किया गया पर कोई समाधान नहीं, कोई सुराग नहीं मिला कि आखिर हुआ क्या ? लोग धीरे-धीरे बात भूलने लगे, पर परिवार वालों ने अंतरंग रूप से खोज जारी रखी थी। इस प्रकार 2 वर्ष व्यतीत हो गये। तब जानकारी मिली कि वे पेरिस पहुँच गये थे। वे सभी पेरिस पहुँचे। वहाँ पहुँचकर जब गोगा को देखा तो आश्चर्यचकित रह गये। वह बहुत बड़ा चित्रकार बन गया था। पत्नी ने पूछा- क्यों चले आये ? हमने तो ऐसा सोचा भी नहीं था। किसलिए हम लोगों को छोड़ आये थे ? पुत्र ने भी यही पूछा, तब उसने कहा- "मैं सोया हुआ था, पर सहसा अंतरंग में जागरण हुआ। किसी ने कहा- जिसमें तू जी रहा है, वही तेरा रूप नहीं है। जिसमें तू जी रहा है वह 'तू' नहीं है। मैंने भी सोचा कि मैंने धन तो बहुत कमा लिया पर अभी तक अपना असली रूप प्राप्त नहीं किया है। अंतरंग में प्रेरणा हुई कि उठो, अपने रूप की पहचान करो। मैं वहाँ से निकला और यहाँ पहुँच गया। यहाँ पहुँचकर भी मैंने बहुत रूप बनाये हैं अर्थात् बहुत चित्रकारी की है। अब मैं दलाल के उस रूप को देखना नहीं चाहता।" पत्नी-पुत्र ने पूछा- हमारा क्या होगा ? उसने उत्तर दिया- "तुम्हारा इंतजाम मैं पहले ही कर चुका हूँ। सम्पत्ति तो मैं सारी घर ही छोड़ आया हूँ, यहाँ लाया नहीं हूँ। मैं अब घर नहीं चल सकता। मैं जिन्दगी भर पति या पिता बना नहीं रहना चाहता। मैं वहाँ रहना चाहता हूँ जहाँ न पति रहूँ, न पुत्र रहूँ, सिर्फ मैं रहूँ। उस रूप को पाने का प्रयत्न करूँ जो मेरा असली रूप है।"

वह गोगा चित्रकार बना। उसका एक-एक चित्र लाखों रुपयों में बिकने लगा। एक दिन वह वहाँ से भी निकलने लगा। लोगों ने कहा- अब तो कमाई के द्वार खुले हैं। एक-एक चित्र लाखों में बिक रहा है, फिर निराशा क्यों ? उसने समाधान किया- "ये मेरा असली रूप नहीं है, मैं तो

अभी उसे ढूंढ रहा हूँ। आप इस रूप को देख रहे हैं, मेरा रूप यह नहीं है।''

आज हम भी कितने रूप धारण कर रहे हैं, विचार कीजिये। अभिनय ही तो है यह ! व्यक्ति संसार के इस मंच पर अलग-अलग रूप बनाता है उसने अब तक न जाने कितने रुप बनाये हैं ! एक जिन्दगी में ही कितने रुप बनाये है ? एक जिन्दगी तो दूर, एक दिन में ही व्यक्ति कितने रूप बना लेता है। धर्मस्थान में तो वह ऐसा धर्मात्मा का रूप बनाता है कि कोई उसकी बराबरी न कर सके। पर वही धर्मात्मा जब दुकान पर बैठता है तो लोग कल्पना भी नहीं कर सकते कि इसके जीवन में कहीं धर्म भी रहा होगा, इसने कभी परमात्मा का स्मरण किया होगा। परिवार में देखें तो रूप कुछ और समाज में देखें तो रूप में फिर परिवर्तन ! समझ में नहीं आता कि आखिर उसका असली रूप कौनसा है ? यक्ति स्वयं ही अपने रूप की पहचान नहीं कर पाता है। समाज, परिवार वाले भी यह समझ नहीं पाते हैं कि उसका असली रूप कौनसा है ?

एक सम्राट थे, जिन्होंने अपनी महारानी को भ्रांतिवश निष्कासित कर दिया था। अपने पीहर में पहुँचकर उसने व्यवस्था जमाई और कालान्तर में उसी नगर में पहुँचकर भव्य भवन में रहकर प्रतिष्ठा प्राप्त की। फिर सम्राट को आमंत्रित किया और परोसने के लिए स्वयं पहुँची। किन्तु फुलके-परोसने गई तो पोशाक दूसरी, मिठाई परोसने गई तो पोशाक तीसरी, सब्जी लेकर गई तो पोशाक फिर बदली हुई। इतनी-इतनी पोशाकें बदलीं कि सम्राट् आश्चर्यचकित रह गये कि औरत एक है या अनेक ? कितनी औरतें परोस रही हैं, निश्चय नहीं कर पा रहे थे ? उलझन में पड़ गये। मकान मालिक से पूछा- ''परोसने वाली औरत कौन है ? मैं मिलना चाहता हूँ।'' मिलने अंदर पहुँचा तो देखा जिस रानी को उन्होंने निष्कासित किया था वही थी और निष्कासित होते समय जो पोशाक बदन पर थी, वही पहने हुई थी। गौर करके पूछा तो ज्ञात हुआ कि यह तो महारानी ही है। सम्राट कहने लगे- यह मैं क्या देख रहा हूँ ? क्या आप ही परोसगारी कर रही थीं ? मैंने चेहरा देखा तो कर्त्तव्यविमूढ़ वन गया हूँ।

विचार कीजिये कि जैसे ऊपर की पोशाक बदली जाती है, वैसे ही हमारे जीवन के व्यवहार भी सुवह से शाम तक कितने परिवर्तित होते हैं। परन्तु इस पर कभी हम चिन्तन नहीं करते। वाजार में भी आपने देखा

होगा; बच्चे खेल खेलते हैं, मुखौटा लाते हैं। कोई रावण का, तो कोई विभीषण का लाता है और मुँह पर बाँधकर एक-दूसरे को डराने-धमकाने के लिए अभिनय भी करते हैं। वैसे ही कहीं हम भी मुखौटे लगाकर जीवन तो व्यतीत नहीं कर रहे हैं ? एक समय तो धर्मराज का मुखौटा और दूसरे क्षण दुर्योधन का मुखौटा लगा लेते हैं। कभी कृष्ण का मुखौटा, तो कभी कंस का लगा लेते हैं। पर हमारा असली रूप, ऑरिजनल स्वरूप क्या है ? अपने ऑरिजनल रूप को देखने का क्या हमने कभी प्रयत्न किया है ? फुर्सत ही कहाँ है ? यदि किसी से कुछ कहा जाये तो एक ही उत्तर मिलता है- 'समय नहीं है।' समय आयेगा ! आपको समय मिले या नहीं, किन्तु काल को समय जरूर मिलता है। मौत को मिल जायेगा और वह आपको यहाँ से उठाकर रवाना कर देगी। फिर समय मिलेगा ? हमारे पास समय नहीं है। वस्तुतः हम समय को जान ही नहीं पाये हैं। उस गोगा ने अपने रूप को जानने के लिए कई प्रयत्न किये। वह तो बेचारा समझ नहीं पा रहा था और उसे तीर्थंकर देवों की संस्कृति भी प्राप्त नहीं हुई थी, इसलिए वह इधर से उधर भटक रहा था, किन्तु आपको तो तीर्थंकर देवों की संस्कृति प्राप्त हुई है। उसके रहते अपने ऑरिजनल रूप को न देखें तो उससे बढ़कर मूर्खता, नादानी या शर्म की बात क्या हो सकती है।

बंधुओं ! विचार कीजिये। चिन्तन करेंगे तो ही पता लगेगा कि अनादिकाल से हमने इतने रूप बनाये। इतने रूप बनाये कि ऑरिजनल रूप ही खो गया है, उसे ढूंढने जाते हैं तो भी उसे प्राप्त नहीं कर पाते हैं। यही कारण है कि भ्रमणा में भ्रमित होते चले जाते हैं। इसीलिए कहा हैं- तलवार की धार पर चलना सरल है, किन्तु तीर्थंकर देवों की चरण सेवा कठिन काम है। अपने ऑरिजनल रूप को जानना कठिन है। शास्त्रकारों ने उदाहरण दिया है।

एक अंधा व्यक्ति वहुत लंबे-चौड़े मैदान में छोड़ दिया गया। चारों ओर परकोटा था। उसके सहारे-सहारे चल रहा था, थक रहा था, पर चाहता था कि परकोटे के वाहर निकलूं। घूमते-घूमते वह दरवाजे के निकट पहुँच गया पर तभी शरीर में खुजाल चली तो खुजालते-खुजालते

20-30 कदम आगे बढ़ गया और दरवाजा निकल गया। टटोला तो दरवाजा नहीं मिला। फिर घूमा, एक राउंड और पूरा किया। जैसे ही दरवाजा निकट आता तो खुजलाने के लिये हाथ छोड़ देता है और दरवाजा फिर निकल जाता। अगला राउंड चालू हो जाता। जिस समय द्वार को प्राप्त कर सकता था, ठीक तभी उधेड़बुन या खुजाल में लग जाता और राउंड लगाता रहता। ऐसा ही हमारे साथ हो रहा है। हमने अब तक कितने राउंड लगा लिये हैं ? है कोई गिनती ? कितने पुद्‌गल परिवर्तन, काल-चक्र व्यतीत कर लिये हैं ? और विकास कितना किया है हमने ? बस इस चतुर्गति संसार सागर में पड़े हैं पर अपना स्वरूप भी प्राप्त नहीं कर पाये हैं। हम अपनी पहचान भी नहीं कर पाये है। द्वार के निकट पहुँच भी जायें पर माथे में खुजाल हो जाये तो फिर कितने राउंड बनेंगे ? किन्तु इतने राउंड के बाद भी हमें थकान आ रही है या नहीं ?

## खेद प्रवृत्ति हो करता थाकिये रे....।

बड़ा खेद होता है, प्रवृत्ति करते-करते थककर चूर हो गये हैं, पर द्वार प्राप्त नहीं हो सका है।

शास्त्रकारों ने अध्यात्म के क्षेत्र में प्रवृत्ति के सूत्र बतलाये हैं। जैसे परकोटे में अंधा व्यक्ति घूमता रहा है, वैसे ही हम भी यथाप्रवृत्ति के आश्रय से द्वार तक अनेक बार पहुँचे हैं, पर द्वार के निकट पहुँच कर भी धक्का देकर द्वार खोलकर बाहर निकलने का साहस नहीं जुटा पाये हैं और स्वयं को पुनः उसी चक्कर में झौंक रहे हैं। कुछ विरल आत्माएँ ही होती है जो यथाप्रवृत्ति करण के द्वार पर पहुँच, भोगल को तोड़कर, परकोटे से बाहर निकल जाती है और निकलने पर जब अपने रूप को देखती है तो चकित रह जाती हैं- 'मैं कौनसी दुनिया में आ गयी !' वह अलौकिक रूप प्राप्त न करें तब तक तीर्थंकर देवों की चरण-सेवा भी नहीं बन सकती है, चाहे कितनी भी सामायिक, संवर कर लें या साधु जीवन की पोशाक बदल लें। इन सबसे काम नहीं चलेगा। हम सही स्वरूप को जानने के लिए पुरुषार्थ करें तो फिर देखिये चरण-सेवा किस प्रकार बन पाती है ? बंधुओं ! वह प्रयत्न कीजिये जो अब तक के जन्मों

में आप नहीं कर पाये हैं। भले ही वे जन्म तिर्यंच गति के, नरक गति के, देव गति के या मनुष्य गति के रहे हों। अब तक जो नहीं कर पाये हैं, उसे करने की तैयारी करें। जिसे अब तक ढूंढ नहीं पाये हैं, उसे ढूंढने का प्रयास करें।

कहते हैं जब सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक आइंस्टीन मृत्यु शैय्या पर पड़े थे और तब जो मित्र-बंधु उन्हें घेर कर बैठे हुए थे, उन्होंने कहा- डॉ. आइंस्टीन, आपने अपने जीवन में बहुत कुछ हासिल किया। विज्ञान के क्षेत्र में नई क्रांति की, आकाश गंगा को छान लिया और न जाने कैसे-कैसे आविष्कार जनता को, वैज्ञानिक जगत् को दिये। आपके जीवन की साधना तो पूर्ण हो गई होगी और अब तो खोज करने के लिये कुछ भी बाकी नहीं रहा होगा। तब आइंसटीन ने कहा- "मित्रों ! हालांकि मैंने भौतिक जगत् में बहुत कुछ खोजने का प्रयत्न किया है, किन्तु मेरे मस्तिष्क में अभी एक इच्छा शेष है। मैं चाहता हूँ कि मुझे पुनः मनुष्य का तन मिले, जिससे मैं खोज कर सकूं कि उस भौतिक की खोज करने वाला इस शरीर में कौन है। उस खोज करने वाले तत्त्व की मैं खोज करना चाहता हूँ।"

बड़े-बड़े डॉक्टर और वैज्ञानिक भी चाहते हैं उसकी खोज करना, किन्तु जिन्हें जन्मजात यह मार्ग मिला है, वे भी क्या यही करना चाहते हैं ? कहीं कानों में तेल डालकर या फोहे डालकर तो नहीं बैठे हैं वे लोग ? कहीं व्याख्यान सुन-सुनकर उनके कान पक तो नहीं गये हैं। मुझे लगता है कि ज्यादा धर्म सुनने से सुन-सुनकर कान इतने पक्के हो गये हैं कि उन्हें सुनाते रहने में कोई मतलब नहीं है। कई लोग भी कहते हैं कि महाराज क्या इन लोगों को सुनाते हो, जिनको सुनने के बाद भी कान पर जूं तक नहीं रेंगती। कभी-कभी संतों के भी ऐसे विचार बन जाते हैं, पर इस विषय में जब कुछ गहरा सोचता हूँ तो लगता है कि नहीं इन्हें बार-बार सुनाया जाये। आपने देखा होगा कि कोई कारीगर लकड़ी के तख्ते में यदि छिद्र करना चाहता है तो एक ही स्थान पर बार-बार चोट करता है। वैसे ही लोहे की चादर में छेद करना होता है तो ही एक स्थान पर पुनः पुनः चोट करनी होती है। वैसे ही यदि हमें अपने असली स्वरूप

की खोज करनी है तो पुनः पुनः वहाँ चाट करनी होगी तभी कहीं जाकर हम खोज कर पाएंगे, नहीं तो जन्म-मरण होते रहे हैं, होते रहेंगे और मृत्यु का ग्रास बनकर जिन्दगी समाप्त होती रही है, होती रहेगी। इसलिये जानिये। ये अवसर मिला है। अभी भी नहीं जगे तो अंतिम समय हाथ मलते रह जाओगे। रोने के अलावा कोई चारा नहीं रहेगा। जिन्दगी का महत्त्वपूर्ण समय हमें मिला है, बुढापे में कुछ भी नहीं कर पाएंगे, ऐसा मौका जीवन में बार-बार नहीं आता है।

गोगा चित्रकार जो अपने ऑरिजनल या असली रूप को पाने के लिए उत्सुक था। पर संसार के पामर प्राणी संसार-यात्रा में मुखौटे तो हर बार, हर मोड़ पर और हर स्थिति में लगाये, उन्हें ही लोगों ने देखा, उन्हें ही दर्पण में देखकर हम अपने स्वरूप की कल्पना करते रहे, पर जो दर्पण में दिख रहा था, जिसे हम अपना स्वरूप मान रहे थे, वह मूल या ऑरिजनल स्वरूप थोड़े ही था। मूल रूप तो मुखौटा उतारने पर ही प्रकट हो सकता था। अब हम मुखौटों से ही प्रेम करने लगें तो बात कैसे बने ? अतः मुखौटों के मोह को छोड़ें। इसके लिये अपनी अनंत शक्ति में विश्वास उत्पन्न कीजिये। कवि विनयचंदजी ने इसीलिये प्रेरणा देते हुए कहा है-

**तूँ सो प्रभू, प्रभू सो तूं हैं, द्वैत कल्पना मेटो।**
**सत्-चित-आनंद रूप विनयचंद परमातम पद भेटो॥**

तू है सो प्रभु है, प्रभु है सो तू है, फिर मन में दुर्बलता क्यों लाता है ? अपने स्वरूप को पहचान और अपने सामर्थ्य को जगा।

अतः अपनी आत्मा को आप संबोधित करें, कहें- "हे आत्मन् ! तेरा रूप साधारण नहीं है, अपने मूल रूप में वह प्रभू के समान ही असाधारण है। मैं भटकूँगा नहीं, तुझमें ही खो जाऊँगा।" यह होगी अनंतनाथ भगवान की सेवा उपासना। यह कठिन नहीं है यदि तू मनोवल वना ले तो। तब तलवार की धार पर चलना कठिन नहीं रह जायेगा क्योंकि तलवार की धार फूलों के पाँवड़े वन गई होगी। तो प्रमाद में मत पड़, मन को दृढ़ कर और चल पड़।

28.09.2000

❖ ❖ ❖

# 6. जीवन संगीत का आनंद

बहुत सारी पर्चियां उधर पहुँचती रहती हैं, एक पर्ची इधर की पहुँची कि हम खाली न रह जायें। पर मैं चाहता हूँ कि हम अपने आपको खाली कर लें। जितना हमने अपने में भर रखा है उसे खाली करें, मन की सफाई करें, फिर इस प्रकार का धर्म बीज उसमें वपन करें कि फलीभूत हो सके।

एक अदालत में एक केस पहुँचा। एक व्यक्ति की हत्या हो गई थी। गवाह प्रस्तुत हुए। प्रथम गवाह ने कहा कि मैं वहाँ का आँखों देखा हाल बतला रहा हूँ। मैंने अपनी आँखों से देखा है कि एक व्यक्ति ने खुले आसमान के नीचे अमुक को मौत के घाट उतार दिया। उसकी हत्या कर दी।

दूसरा गवाह प्रस्तुत हुआ। उसने कहा- मैं प्रत्यक्षदर्शी हूँ। उसने चार दीवारी के भीतर उस व्यक्ति का मर्डर किया है। न्यायाधीश विचार मग्न हो गये। दोनों प्रत्यक्षदर्शी यह बात कह रहे हैं कि मर्डर उनके सामने हुआ है। दोनों की बात में एक बिन्दु मिल रहा है, पर एक बिन्दु नहीं मिल रहा है। एक कहता है- खुले आसमान के नीचे, दूसरा कहता है- चार दीवारी में खून किया गया। न्यायाधीश सोचता है कि क्या किया जाये ? न्यायाधीशों के सामने ऐसे प्रसंग आते रहते हैं। संशय और उधेड़बुन की ऐसी स्थिति हमारे मन-मस्तिष्क में भी उपजती रहती है कि धर्म क्या है ? अधर्म क्या है ? कर्त्तव्य ही धर्म है ? नैतिकता ही धर्म है ? धर्म किसे कहा जाये ? आदि। बड़ा गहन विषय है। कभी हम कर्त्तव्य को धर्म मान लेते हैं। कहते हैं कि एक पुत्र का धर्म होता है कि माता-पिता की सेवा करे। एक विद्यार्थी का धर्म होता है कि गुरु की आज्ञा का पालन करे। एक वहू का धर्म होता है कि सासू की आज्ञा का पालन करे। ऐसे तो हम ना जाने धर्म की कितनी व्याख्याएं कर लेंगे किन्तु संतोष फिर भी नहीं मिलेगा। यथार्थ में कर्त्तव्य भिन्न है, नीति भिन्न है

और धर्म भिन्न है। ये सामायिक, पौषध, प्रत्याख्यान धर्म के नियम है। इन्हें ही धर्म नहीं समझ लें। इन्हें ही धर्म मान लिया तो हम गफ़लत में रह जाएंगे क्योंकि नियम-मर्यादा परकोटे के रूप में होती हैं वे अपने आप में धर्म नहीं हैं। धर्म होता है अंतर से। उसकी सुरक्षा के लिए परकोटे लगाने का प्रसंग रहता है।

कहा गया है-

**वत्थु सहावो धम्मो।**

वस्तु का स्वभाव धर्म है। आत्मा का स्वभाव सत्-चित् आनंद है। आत्मा का स्वभाव समता है, वीतरागता है। जो वीतरागता-समता आत्मा में रही हुई है, वह बाहर नहीं चली जाये, बह न जाये इसलिए व्रत-प्रत्याख्यान आदि किये जाते हैं। उस धर्म में कुछ मिल न जाये इसलिए प्रत्याख्यान लिये जाते हैं। मैं सावद्य योग का प्रत्याख्यान लेता हूँ। जो असावद्य बच जाता है, वह मेरा है। हम ऊपरी उलझनों में न पड़ें और धर्म को ऊपरी नियम-प्रत्याख्यान तक न समझें। हमारे अंतर में रहे हुए भाव, समता-वीतरागता आदि जागृत हो पा रहे हैं या नहीं। यह देखना है।

बंधुओं ! न्यायाधीश के सामने जो केश आया था उसका तीसरा गवाह प्रस्तुत हुआ। उसने कहा- हुजूर ! मैंने भी इस व्यक्ति को मर्डर करते देखा है। जो पहले के गवाहों ने कहा है वह भी सही है। मर्डर खुले आकाश के नीचे हुआ है पर यह बात भी सही है कि चार दीवारी के भीतर हुआ है।

एक मकान है, परकोटा है, पर छत अभी पड़ी नहीं है। इसलिए जो कहता है, उसकी बात भी सही है, छत नहीं है इसलिए खुले आकाश के नीचे की बात सही है। जो चार दीवारी की बात कहता है, वह भी गलत नहीं है क्योंकि भारतीय संस्कृति है। यह भगवान महावीर का अनेकान्तवाद का दर्शन है। इसी धरातल पर धर्म के स्वरूप को जान पाएंगे। बाहर के क्रियाकलाप धर्म के मात्र माध्यम-साधन हैं। उनके माध्यम से अंतर में घुसने का प्रयत्न करना चाहिये। कवि आनन्दघनजी धर्मनाथ भगवान की प्रार्थना करते हुए कहते हैं-

## धर्म जिनेश्वर गाऊँ रंग सूं....।

लग जाता है रंग ? बहुत कम लगता है और जब रंग लग जाता है तो व्यक्ति अपने आप में संभल नहीं पाता है। उसके विचारों में परिवर्तन हो जाता है। दुनिया भले कहे- पागल हो गया है। दुनिया की निगाह में वह पागल हो सकता है, पर यथार्थ में भी क्या वह पागल है ? पागल कौन होता है ? किसे माना जाये ? जो आरंभ, विषय, कषाय में उलझ रहा है, वह पागल है या जो आत्मतत्त्व में रमण कर रहा है वह ? कवि अपनी मस्ती में चलने वाले हैं, उन्हें किसी बात की चिन्ता नहीं है। वे अपने हाल में मस्त रहने वाले हैं। दुनिया भले महात्मा को, आत्मरमण करने वाले को, पागल की संज्ञा दे, पर गहराई से विचार करें कि हमारे भीतर रंग लगा है या नहीं ? यदि लग गया है तो दुनिया कुछ भी कहे, वह गले नहीं उतरेगा। हम अपने ही हाल में मस्त रहेंगे। इसीलिये कवि कह रहे हैं-

## भंग मा पड़सो हो प्रीत, जिनेश्वर....।

भंग नहीं पड़ जाये क्योंकि बहुत बार मैं साज लेकर बैठता हूँ, सोचता हूँ सरगम चालू करना, पर सरगम चालू होने से पहले ही महफिल समाप्त हो जाती है। ऐसा भी प्रसंग होता रहा है एक संस्था ने संगीत संध्या का आयोजन किया और एक अंग्रेज को उस शास्त्रीय संगीत संध्या का अध्यक्ष बनाया। वे ठीक समय पर पहुँच गये, पर भारत के संगीतकार समय पर तैयार नहीं हो पाये थे, क्योंकि भारतीय समय के पाबन्द नहीं होते हैं। जब अध्यक्ष महोदय पहुँचे तब तो वे सतर्क हुए और तबले की डोरों को तथा सितार के तारों को जो ढीले थे, ठीक करने लगे। तब तक लगभग आधे घंटे का समय बीत चुका था, अध्यक्ष का समय हो गया था। वे खड़े हुए और कहने लगे- "वाकई शास्त्रीय संगीत का जो कार्यक्रम रखा गया था उससे मैं प्रभावित हुआ। मैंने बहुत कुछ जान लिया है।" आप कहेंगे क्या जाना उन्होंने ? लोगों ने भी कहा- अभी तो कार्यक्रम शुरू ही नहीं हुआ है। पर उसे क्या मालूम ? वह तो साधनों को ही संगीत मान रहा था। उसे क्या मालूम कि वे तो साज थे, जिनसे संगीत प्रारम्भ

होता है। जैसे वह अंग्रेज साधनों को संगीत मान बैठा था, वैसे ही हम ऊपरी चाकचक्य में अंतर की अनुभूति मान लेते हैं और मान लेते हैं कि हम आत्म-रसिक बन गये। किन्तु जब तक समता का रस प्राप्त नहीं कर लेते, उसका स्वाद नहीं चख लेंगे तब तक धर्म भी हमारे जीवन में साकार नहीं हो सकता। ये बाहर के सारे साज हैं, इनसे सरगम पैदा होनी चाहिये, किन्तु हम बाहर के साज में ही उलझ कर रह जाते हैं, परिणामस्वरूप हृदय में संगीत प्रस्फुटित हो ही नहीं पाता है। इसलिए आवश्यक है इनमें न उलझकर भीतर का संगीत प्रकट करें। वह यदि प्रकट हो जाता है तो कवि की तरह हमारे हृदय से भी ध्वनि प्रस्फुटित होने लगेगी। कवि परमात्मा के रंग में, शुद्ध आत्म-स्वभाव में आ गये और इतने आनंद से आह्लादित हुए कि कहने लगे- इसमें भंग नहीं पड़े, क्योंकि मेरा चित्त चंचल है।

कई बार भाई कहते हैं- चित्त चंचल है। क्यों है चंचल ? शिकायत रहती है- चित्त नहीं लगता। इसका भी कारण है। हम दौड़ते-भागते आते हैं और सरगम पैदा करने के बदले साज संवारने लगते हैं। साज संवारने में ही समय पूरा हो जाता है। हम साज तक रह जाते हैं, सरगम पैदा नहीं कर पाते। एक सामायिक कितने समय की होती है ? हम ये मानकर चलते हैं कि सामायिक का काल 48 मिनट का होता है। जैसे 48 मिनट का होता है किन्तु सामायिक का काल वैसे 48 मिनट का नहीं है। पाठ में कहीं लिखा है क्या - 48 मिनट ? सामायिक का काल हमारा पूरा जीवन है। जीवन नहीं सधेगा तो 48 मिनट सध नहीं पाएंगे। एक बच्चा पूरा अध्ययन न करे तो उत्तीर्ण नहीं हो पाएगा। उसे स्कूल में 5-6 घंटे अध्ययन करना होता है और फिर घर में आकर होम वर्क करना होता है। तव वह उत्तीर्ण होने की स्थिति में आता है। पर हमें न तो सामायिक के अध्ययन का ध्यान है, न होम वर्क का। ये न हो तव सामायिक शुद्ध हो नहीं पाती। यदि जीवन में साधना के क्षण सही हों तो उपासना घट सकती है अन्यथा घट नहीं सकती। साधना हमारी पूरी वाउंडरी है और उपासना वह वेदिका है, जहाँ परमात्मा से हम एकमेक अवस्था प्राप्त कर पाते हैं। आपके घर में फोन लगा है, एक कोने में। फोन व्यवस्थित है,

तार व्यवस्थित है, आप माउथपीस उठाकर "हेलो-हैलो" करेंगे तो, किन्तु फिर भी आवाज पहुँच नहीं पाएगी। आजकल मोबाइल हो गये हैं तो तार का संबंध उतना आवश्यक नहीं रहा है किन्तु वैसे फोन में यदि तार सही है तो जहाँ फोन करना चाहते हैं वहाँ पहुँच जायेगा। वैसे ही 24 घंटे तार के रूप में हैं, यदि वे व्यवस्थित हैं तो एक कोने में हमारा तो फोन पड़ा है, उससे परमात्मा से संपर्क स्थापित कर सकते हैं। वह होता है सामायिक का काल। उस समय परमात्मा का स्मरण करें, बाकि समय भूल जाये तो यथार्थ में सम्पर्क कर नहीं पाएंगे। हमारा लक्ष्य ऐसा हो कि किसी भी क्षण हम विस्मृति में न पहुँचे। यह कर लिया तो फिर आने वाले समय में सामायिक ऐसी प्रखरता पैदा कर देगी कि यदि वहाँ कुछ घटने वाला है, कोई एक्सीडेंट होने वाला है तो शक्ति सुरक्षा में लग जाएगी। गाफ़िल नहीं रहेंगे। इस प्रकार आत्मभाव में विचरण होगा तो चित्त में विक्षेप नहीं आयेगा। कवि भी अपवाद नहीं है, वे कहते हैं- मेरा चित्त उधेड़बुन में चला जाता है। क्षयोपशम भाव में चलता है। उछाले आते हैं। मैं नहीं चाहता कि भक्ति का जो तार जुड़ा है उस संबंध में विक्षेप पैदा हो।

एक अन्य दृष्टि से विचार करें तो भी जीवन का संगीत 'सम' पर चलता है। राग-रागिनियां, वाद्य, सुर, ताल, सभी के बीच जब पूर्ण समन्वय उत्पन्न हो जाता है, तब ही संगीत प्रस्फुटित होता है। जीवन को संगीतमय अथवा आनन्दप्रदायी अवस्था में रखने के लिये भी इन्द्रियों के तारों को साधना पड़ता है। संगीत ब्रह्मानंद को प्राप्त करने की कला है, तो जीवन भी जीने की कला है। जीवन की कला को इन्द्रियों और वृत्तियों पर सहज नियंत्रण रखकर प्राप्त करना होता है। परन्तु भोगी जहाँ इन्द्रियों की संतुष्टि और वृत्तियों की स्वतन्त्रता को जीवन मान लेते हैं, वहीं कोई विना 'सम' पर लाये गये वाद्ययंत्रों की ध्वनि को ही संगीत मान लें तो आश्चर्य कैसा ? गुरु की आवश्यकता तभी तो सभी जगह पड़ती है- 'गुरु बिन होइ न ज्ञान'। बेताल का संगीत सिरदर्द और तनाव जैसे दुष्परिणाम उत्पन्न कर सकता है, तो जीवन की उच्छृंखलता, अंशाति, असंतोष, हिंसा, दुर्व्यवस्था आदि उत्पन्न कर सकती है। आज जीवन में अशांति,

असंतोष, हिंसा आदि की वृत्तियाँ जिस प्रकार बढ़ती दिखाई दे रही हैं, वह जीवन वीणा के तारों को ढीला छोड़ देने का ही परिणाम है।

धर्म और कर्त्तव्य के अंतर को भी हम पहचान लें। उन्हें परस्पर जोड़े जरूर, पर दोनों को एक न मान लें। मैंने प्रारम्भ में एक हत्या के संदर्भ में गवाहों की बात कही। बयानों में अंतर न्यायाधीश महोदय की परेशानी का कारण बना। वस्तुतः परेशानी का कारण था दर्शन के साथ चिन्तन का तालमेल न होना। अनेकान्तवाद जहाँ अनेक समस्याओं का समाधान कर देता है, वहाँ एकान्तवादी दर्शन वस्तु या स्थिति के स्पष्ट होने में रोड़े भी उत्पन्न कर सकता है। अतः हम नियमों को शब्द सीमा में न बाँधे, उन्हें उदार बनने दें, हम देखेंगे कि सत्य उद्घाटित होने लगता है। जीवन के सरगम में राग उत्पन्न करने का यही एक रास्ता है, यह हम समझें, तभी जीवन का लाभ और आनद हम प्राप्त कर पाएंगे।

हम चिन्तन करें कि साज तक सीमित न रहें, भीतर के सरगम को प्रकट करें। वह प्रस्फुटित हो गया तो उन स्वर लहरियों से आनंदानुभूति करते चलेंगे। तब राग-द्वेष, ईर्ष्या की झंकार नहीं मिलेगी, किन्तु मिलेगा शांत-प्रशांत संगीत का आनंद। हम समुद्र की ऊपर की लहरों को देखते हैं पर अंदर उतरें तो ज्ञात होगा कि सागर कितना शांत है ? हम चंचल चित्त में न उलझें, गहराई में पैठें और धर्म के अखूट खजाने को प्राप्त करने का प्रयत्न करें, तो जीवन धन्य बनेगा।

30.09.2000

❖ ❖ ❖

# 7. धर्म न जाणे हो मर्म जिनेश्वर

धर्म का कथन करना जितना सरल है, धर्म को जानना और उस पर आचरण करना उतना ही कठिन है। कवि आनन्दघनजी प्रभु-भक्ति में स्वयं को सराबोर करते हुए मन की पीड़ा और अंतर के भाव को प्रकट करते हुए कहते हैं कि-

**धरम-धरम करतो जग सहू फिरे,**
**धर्म न जाणे हो मर्म, जिनेश्वर....।**

धर्म का नाम लेने वाले, धर्म की बात कहने वाले दुनिया में कम नहीं है। जिसे देखो वह धर्म की बात कहता है। वेश्या, चोर, कसाई भी धर्म की बात कहते हैं, पर धर्म का मर्म क्या है ? क्या यह भी वे जानते हैं ? यही जानने की बात है। उसको जाने बिना धर्म केवल तोता-रटन हो सकता है। यथार्थ में धर्ममय बन पाना बड़ा कठिन कार्य है। यही कारण है कि एक धर्म के अनुयायी भी एक मत नहीं हो पाते।

लोग कहते हैं कि पूरा जैन समाज एक होना चाहिये। पर होगा कैसे ? उसके लिए हम क्या करें ? समन्वय होना बहुत अच्छा है, किन्तु समन्वय का कोई धरातल भी होता है। धरातल बिना कोई समन्वय टिक नहीं पाता है। आज भौतिक वैज्ञानिक प्रयोगशालाओं में अनेक प्रकार के प्रयोग करते हैं और उन्हीं पदार्थों का समन्वय करते हैं जिनके घटक मिल जाते हैं या जिनमें कोई कॉम्बीनेशन मिल जाता है अन्यथा समन्वय सही सध नहीं पाता है। दूध के साथ मिश्री को घोलें तो समन्वय हो जायेगा। दूध के साथ पानी को मिलाया जाएगा, तो भी समन्वय हो जाएगा। ये बात अलग है कि उसकी गुणवत्ता कम हो जावेगी। दूध की गुणवत्ता में पानी मिलने से अंतर आयेगा और मिश्री मिलाने से उसमें विशिष्टता आएगी। पर यदि दूध में नींबू का रस मिलाया जाये तो क्या समन्वय होगा सही तरीके से ? बहुत कुछ विचार सारणियाँ सामने आती रहती हैं, किन्तु वे

कई बार सुना होगा- चंड प्रद्योतन, जो स्वर्ण गुलिका को चुराकर ले गया, उदायन ने उसी स्वर्ण गुलिका के लिए चढ़ाई की। संवत्सरी का प्रसंग है- चंड प्रद्योतन कैद में पड़ा है। ललाट पर 'मम दासी पति' अंकित किया गया है। संवत्सरी का पौषध करके किनसे क्षमायाचना की गई ? आज हमारी क्षमायाचना कैसी होती है ? कहते तो हैं- खमाऊ सा, खमाऊ सा, किन्तु अंतर में वस्तुतः क्षमा की भावना बनी या नहीं बनी, यह पता नहीं होता, किन्तु क्षत्रियों के जीवन में देखोगे तो पारदर्शिता नजर आएगी। माया-कपट क्षत्रिय कुल में कम मिलेगा। माया-कपट भले ही वैश्य समाज में मिल जाये, किन्तु क्षत्रिय कुल में जन्म लेने वालों में सामान्यतः पारदर्शिता होती है। चेहरा देखकर उनके अंतर के भावों को हम जान सकते हैं- जैसा अंदर, वैसा ही बाहर।

ऐसी पारदर्शिता क्षत्रिय कुल में प्राप्त होती है, किन्तु बिगड़ने को वहुत से बिगड़ भी सकते हैं। क्षत्रिय कुल में भी बहुत से बिगड़ैल मिल सकते हैं, परन्तु ऐसे बिगड़ने वाले क्षत्रिय कुल में कलंक ही लगाते हैं। पर सामान्यतः जो क्षत्रिय है, वह पारदर्शी ही मिलेगा। हम देखते हैं कि कितने ही क्षत्रिय सम्राटों ने अहिंसा के झण्डे के नीचे आकर अहिंसा को स्वीकार किया। उनकी अहिंसा वीरता की थी, वे केवल अहिंसा का लबादा नहीं ओढ़ते थे। हम भी अहिंसक कहलाते हैं, परन्तु यथार्थ में अहिंसा की चादर ओढ़े हुए हैं। अहिंसा तो बहुत गहरी वस्तु होती है। वीरता के बिना अहिंसा टिक नहीं सकती। अहिंसा और कायरता में तो कोई संबंध ही नहीं जुड़ता। कायर, अहिंसा की चादर ओढ़ सकता है, परन्तु वह वीर नहीं बन सकता। गीदड़, शेर की खाल ओढ़ सकता है, पर वह सिंह नहीं बन सकता। जिस समय दहाड़ लगानी होगी वह गर्जना नहीं कर पाएगा। हुआं-हुआं करके रह जायेगा, क्योंकि ऊपर से खाल ओढ़ लेने से प्रकृति नहीं वदल जाती, गीदड़ सिंह नहीं वन जाता और सिंह बने बिना गर्जना कर नहीं सकता। इसके विपरीत भेड़ों के बीच रहने वाला सिंह जब तक अपने स्वरूप को जान न लें तव तक भले ही लोग उसे भेड़ समझते रहें या वह स्वयं को भेड़ समझता रहे, किन्तु भीतर का सिंह जिस दिन जागृत हो जाता है उसी दिन से उसकी दहाड़ अपने आप चालू

हो जाती है। यह स्वाभाविक अवस्था है, किन्तु गीदड़ में कभी गर्जना आ नहीं सकती। इसलिए तीर्थंकरों का जन्म क्षत्रिय कुल में होता है, क्योंकि वहाँ क्षमा, करुणा, मृदुता और शौर्य जैसे गुण सहज ही प्राप्त हो जाते हैं। यह सर्वविदित ही है कि व्यक्ति की जैसी संगति होती है उसमें उसी प्रकार के संस्कार पनपने लग जाते हैं। इसलिए कहा गया है-

**संसर्गजा दोष गुणा भवन्ति।**

संसर्ग से गुण-दोष की वृद्धि या हानि होती है। कोई व्यक्ति यदि निरन्तर धार्मिक लोगों के पास बैठता है तो उसमें धीरे-धीरे धर्म के संस्कार उत्पन्न हो जाते हैं। जैसे- एक शराबी के पास निरन्तर बैठने वाला भले ही शराब न पीने लगे, परन्तु शराबी के हाव-भाव तो उसमें आने लग ही जाते हैं। टी.वी. पर रामायण सीरियल प्रसारित हो रहा था तब छोटे-छोटे बच्चे भी तीर-कमान लेकर 'जय श्री राम' कहकर तीर चलाने लग गये थे। प्रारंभ में यह नहीं सोचा होगा कि किसी के चोट लग जाएगी, परन्तु कईयों के हाथ-पांव और आँखों में चोट लग गई थी। भले ही किसी ने सोचा न हो, परन्तु बच्चों में भी संसर्ग से ऐसे संस्कार आ गये थे। वय की कोमलता की बड़ी महिमा है इसीलिए राजाओं के घर में ऐसी पूरी व्यवस्था की जाती थी कि बालकों को अच्छे संस्कार ही पड़े। यह नहीं कि कायरता के संस्कार पड़े। यदि किसी दासी ने क्षत्रिय पुत्र को दूध पिला दिया तो माताएँ बालक के मुँह में अंगुली डालकर उल्टी करवा देती थीं कि कहीं उस दूध के कारण उनकी कोख को दाग न लग जाये। ऐसा शौर्य, ऐसी उदारता संस्कारों से ही आती है। बनियों के लिए कहा जाता है कि बनिया खुश हो जाये तो सौ-दो सौ, लाख-दो लाख दे देगा। इससे ज्यादा तो नहीं देगा, पर सम्राट खुश हो जाये तो जागीर दे देता है, सौ-दो सौ नहीं देता।

अकबर-बीरबल के बीच चर्चा हो रही थी। कोई प्रसंग आया तो बीरबल से पूछा-अगर तुम्हारी कभी कोई गलती हो जाये तो न्याय किससे करवाया जाये ? बीरबल ने कहा आप पूछ रहे हैं और मेरी बात जानना चाहते हैं, तो मेरी राय है कि मुझसे यदि गलती हो जाये तो निर्णय चमारों से करवाया जाये। क्यों करवाया जाये ? यह अकबर की समझ में नहीं

आया। संयोग से ऐसा प्रसंग बन गया। एक बार बीरबल से गलती हो गई। सम्राट् ने देखा कि वह गलत कर रहा था। कहा- ये तुम्हारी गलती है, दंड क्या दिया जाये ? बीरबल ने कहा- हुजूर ! आपको मेरी प्रार्थना का ध्यान होगा कि मेरा निर्णय किसे करना है ? सम्राट् ने कहा- ठीक है। चमारों की सभा बैठाई गई। सभी चमार प्रसन्न हो रहे थे कि आज बीरबल की तकदीर हमारे हाथ में है। ये अपने आपको बहुत समझता था। आज हिसाब-किताब बराबर कर लेना है। वे पंचायत में बैठ गये अच्छी पोशाक सजाकर। उनको अफीम लेने की आदत थी। अफीम का सेवन किया गया। पंचों की जाजम पर रंगत आने लगी- बीरबल जैसे का निर्णय अपने को करना है। इसका अपराध भी बड़ा है, इसलिए दंड भी बड़ा होना चाहिये। पंचों में विचार-विमर्श चलने लगा। फैसला हुआ- छः कौड़ी रुपयों का दण्ड दिया जाये। एक कौड़ी में बीस रुपये तो छः कौड़ी अर्थात् 120 रुपयों का दंड बना। जिसकी जितनी औकात होती है उसी के आधार पर वह विचार कर सकता है। इसीलिए तो बीरबल ने कहा था कि मेरा निर्णय चमारों से करवाया जाये। परन्तु छः कौड़ी की बात पर भी उनमें आपस में मतभेद हो गया। उन्होंने विचार किया कि छः कौड़ी बड़ी राशि है, बेचारे के बाल-बच्चे भी तो हैं। अतः कुछ रियायत की जाये। आपस में चर्चा होते-होते बात आ गई तीन कौड़ी पर। तीन कौड़ी अर्थात् 60 रुपये का दंड दिया जाये। इतना सा दण्ड ! बीरबल छूट गये। अकबर अवाक् हो देखता रह गया। बीरबल ने कहा- हुजूर आपने पूछा था तो मैंने कहा था कि मेरा निर्णय चमारों से करवाया जाये। उन्होंने यह फैसला कर दिया है।

आपने देख लिया कि जैसा संसर्ग होता है, वैसे ही गुणों की अभिवृद्धि या हानि होती है। यदि उदार के साथ रहें तो व्यक्ति के विचारों में उदारता आयेगी और यदि निराशा में जीने वाले से संसर्ग होगा तो जीवन में प्रफुल्लता नहीं रहेगी। बगीचे में व्यक्ति पहुँचते हैं तो जमीन पर पड़े कुम्हलाये फूलों के प्रति उनका आकर्षण नहीं होता, खिले हुए फूलों के प्रति आकर्षण होता है। क्यों ? क्या कारण है ? आप कारण को नहीं जान पाएंगे। आप कहेंगे कि मन में ये भावना बनी कि 'खिला हुआ लूं'

और कोई हेतु नहीं है। पर इसके पीछे कारण है। कोई भी व्यक्ति हो खिले हुए फूल ही चाहता है। जो कुम्हला गया है, उसे वह नहीं चाहेगा। वैसे ही हमारा अंतर यदि पुष्पवत् खिला हुआ हो तो हर व्यक्ति निकट आना चाहेगा। भ्रमर भी उसी पर क्यों मंडराता है ? उसके पीछे कारण है, वहाँ उसे पराग, जीवन की शक्ति जीवनी की खुराक मिलती है। कुम्हलाये हुए फूल में वह पराग और वह जीवनी शक्ति नहीं मिल सकती। हम भी चिन्तन करें।

तीर्थंकर ही नहीं प्रत्येक व्यक्ति के लिए तीन बातों की आवश्यकता होती है। तीर्थंकरों को क्षत्रिय कुल में यह सहज प्रफुल्लता मिलती है तो उस कुल में जन्म लेने के बाद वे सही रूप में अहिंसा का प्रतिपादन कर पाते हैं। आप अनुभव करेंगे कि जीवन के प्रति लगाव, चिन्ता जितनी वैश्य को होती है, उतनी क्षत्रिय को नहीं होती। उसे जीवन से उतना मोह नहीं होता, पर अपने यशस्वी जीवन की रक्षा के प्रति लगाव अवश्य होता है। किसी की रक्षा का दायित्व यदि उसे दिया जाये तो भले उसे अपने प्राणों की आहूति ही देनी पड़े, वह पीछे नहीं हटता। यह उनके जीवन की अहिंसा है।

अहिंसा हम किसे मानते हैं ? उसका रूप क्या है ? इसे भी समझें। सामान्यत: किसी की हिंसा नहीं करने को ही हम अहिंसा मान लेते हैं। श्रावक के लिए निरपराधी का त्याग है, पर कोई अत्याचारी जुल्म करता हो तो दंडात्मक नीति का प्रयोग अहिंसा के अन्तर्गत ही आता है। चेड़ा महाराज ने युद्ध भी किया, पर शास्त्रकार कहते हैं कि उनके 12 व्रतों में कोई दोष नहीं लगा, उनका अहिंसा अणुव्रत भंग नहीं हुआ। वर्ण नाग नतुआ श्रावक था वेले-वेले तपस्या कर रहा था, पर जब युद्ध में जाने का प्रसंग आया तो उसने यह नहीं सोचा कि मेरे वेले-वेले पारणा चल रहा है, कमजोरी आ गई है। इसीलिए रणभूमि में नहीं जाऊँ ? बल्कि वह बेले की जगह तेले का प्रत्याख्यान कर समरभूमि में वीरता के साथ उतरा। तब समझ लीजिये कि अहिंसा कायरता से जोड़ी नहीं जा सकती। इसीलिए कवि ने संसारी स्थितियों से खिन्न होकर कह दिया-

धरम करतो जग सहू फिरे।
धरम न जाणे हो मर्म जिनेश्वर॥

धर्म के मर्म को जानना सभी व्यक्तियों के वश की बात नहीं है। सभी व्यक्ति धर्म के मर्म को जान भी नहीं सकते। आपने अनेक बार अनुभव किया होगा, अनेक बार देखा भी जाता है कि कैसे समाज, धर्म की रक्षा की स्थिति बनती है। एक घटना है छोटी सी। हाइवे पर एक बंदर का एक्सीडेंट हो गया। तत्काल चारों तरफ से बंदरों की पूरी जमात चली आई और उसे घेरकर खड़ी हो गई। कुछ दिन पहले हमने भी देखा था। ऊपर से एक बंदर न जाने कैसे गिर गया। बाहर से बिजली के करंट का झटका लगा था। ट्रांसफार्मर गिर गया था। जोर की आवाज हुई थी। वह तड़फ रहा था। कैसे बचायें ? बाहर लाने का प्रयत्न किया जाना था, किन्तु उसके चारों तरफ बंदरों की जमात हुंकार भर रही थी। थोड़ी देर तो कठिनाई से प्रयत्न किये गये, फिर सूचना भेजी गई। तव विद्युत विभाग के कर्मचारियों ने आकर उसे निकाला। कहने का आशय यह है कि पशुओं में बहुत हमदर्दी होती है। एक को चोट लगने पर सारे संगी-साथी उसे घेर लेते हैं या मालूम पड़ जाये कि दूसरा तंग कर रहा है तो सारे उस पर टूट पड़ते हैं। मधु-मक्खियों के छत्ते को छेड़ें तो सारी मधुमक्खियाँ एक साथ हमला कर देती हैं। और एक इंसान है किसी की हत्या हो जाये या एक्सीडेंट हो जाये तो कितने जने उसे घेर कर खड़े रहेंगे ? आप भी गाड़ी लेकर निकल रहे हैं, तो क्या करेंगे ? लोग साइड से या बाईपास से निकल लेना पसंद करेंगे, कौन पुलिस केस में फँसे। कोई मदद नहीं करेगा यह तो नहीं कह सकता, पर बहुत कम मदद करने वाले मिलेंगे।

वंधुओं, वात दया और मानवता की है। व्यक्ति की पद की पात्रता भी मानवीय गुणों से निर्मित होती है। आपने उस राजा की चयन प्रक्रिया की कहानी सुनी होगी, जिसे अपने राज्य के प्रधानमंत्री की नियुक्ति करनी थी, परीक्षा देने के लिए बहुत पहुँचे। एक व्यक्ति थोड़ा लेट हो गया। क्योंकि मार्ग में जो एक नाला पड़ता था, उसमें कीचड़ बहुत था। एक वैलगाड़ी उसमें फँस गई थी। वैल जोर लगा रहे थे, पर निकाल नहीं पा रहे थे। उधर से निकलने वाले सभी प्रत्याशियों से गाड़ीवान ने

गिड़गिड़ाते हुए गाड़ी निकलवा देने की प्रार्थना की, पर सभी यह कहते हुए निकल गये- टाइम नहीं है, इंटरव्यू देने पहुँचना है, लेट हो गये तो मौका हाथ से निकल जाएगा। यदि पद पर आ जाते हैं तो जिंदगी निखर जाएगी। इसलिए बीच में समय खराब नहीं कर सकते। किन्तु एक व्यक्ति रुका, उसने गाड़ीवान की समस्या समझी। मानवता से उसका हृदय भरा हुआ था। उसे अपने कर्त्तव्य का ध्यान आया। उसने समय की चिन्ता न करते हुए पहियों को ढकेलने का प्रयत्न किया और फँसी गाड़ी को बाहर निकला दिया। कपड़े भी खराब हो गये, पर उसने परवाह नहीं की। इसके बाद वह इंटरव्यू देने पहुँचा। राजा ने खुफिया छोड़ रखे थे, सूचना मिल गई। बैलगाड़ी अटकाना भी सम्राट की ही चाल थी। देखना था कौन निकालता है। प्रधानमंत्री बनने की कामना रखने वाले के दिल में इंसान के प्रति रहम है या नहीं ? आप समझ गये होंगे कि चयन किसका हुआ होगा ?

पुराने समय में सम्राट हृदय में मानवीय मूल्य रखते थे। उनके जीवन में धर्म बोलता था। भले युद्ध में अनेक को मौत के घाट उतार देते हों, पर अपने जीवन में वे धर्म से विमुख नहीं होते थे। पदों पर चयन भी यही भावना रखकर करते थे। कोई जनता का शोषण करने वाला न आ जाये जो अनावश्यक बोझ न डाले। इसलिए रहम करने वाला कौन है ? उसकी खोज होती थी। चिन्तन करें, कवि तो परमात्मा के चरणों में प्रार्थना कर रहे हैं क्योंकि उन्होंने धर्म को जाना है तभी तो यह अभिव्यक्ति हुई। उन्होंने ये माना है-

**धर्म जिनेश्वर चरण ग्रह्यां पछी।**
**कोई न बाँधे हो कर्म, जिनेश्वर.....।**

कोई चरण ग्रहण कर ले तो कहा कि मेरी ऐसी मान्यता है कि वह कर्मबंधन करने की स्थिति में नहीं रहेगा।

कर्म बंध किसके होते हैं ? उसके जो असहाय को मारता है, हैवानियत करता है, प्रेम-दया जिसमें नहीं होती। यदि आप सुरक्षा के दायित्व से जुड़े हैं तो वहाँ कुछ हिंसा हो सकती है, किन्तु वहाँ भावना

हिंसा की नहीं, रक्षा की होती है। जहाँ रक्षा के निमित्त हिंसा भी हो जाती है तो उसे नाजायज नहीं माना गया है। आप कहेंगे इसका क्या शास्त्रीय प्रमाण है ?

भगवती सूत्र में गौतम स्वामी भगवान से पूछते हैं कि श्रावक ने प्रतिज्ञा ली कि निरपराधी त्रस प्राणी का वध नहीं करूँगा। प्रतिज्ञा कर ली, फिर भी वह खेती तो करता है। खेती करना जायज है या नाजायज ? वह श्रावक है या नहीं ? कर्मादान का सेवन नहीं हो रहा है ? 'फोड़ी कम्मे' का क्या अर्थ है ? कोई-कोई कहते हैं ये स्फोट कर्म है। खेत को हल से खोदा जाता है इसलिए कर्मादान है। श्रावक के लिए तो कर्मादान निषिद्ध है। पर वस्तुतः यदि खेती कर्मादान है तो आनंद श्रावक के पास खेती थी या नहीं ? उसके पास खेती थी। वह खेती करता भी था। भगवान महावीर ने अग्रणी मानकर उपासकदशांग सूत्र में उसका वर्णन किया है। क्या वह श्रावक जीवन के विपरीत क्रिया करता था। यदि विपरीत क्रिया करता होता तो वर्णन आता कि वह चूक गया, उसने दोष का सेवन किया। पर ऐसा उल्लेख नहीं मिलता है। फोड़ी का अर्थ है- स्फोट, स्फोट अर्थात् जहाँ विस्फोट की आवाज हो। सुरंग बनाकर या बम डालकर चट्टान तोड़ने, खदान खोदने जैसा कोई कार्य हो तो वह स्फोट कर्म है, न कि खेती। भगवान से पूछा गया कि निरपराधी त्रस जीवों के वध का त्याग है, पर वह पृथ्वी का परिकर्म, आरंभ-समारंभ कर रहा है। पृथ्वी का आरंभ करते हुए उसकी नेश्राय में रहे हुए वहुत से त्रस जीवों की घात हो जाये, तो उसकी जो प्रतिज्ञा थी वह टूटी या नहीं ? जो व्रत था कि त्रस की हिंसा नहीं करूँगा, तो हिंसा हुई या नहीं ? तो प्रतिज्ञा रही या टूट गई ? भगवान ने कहा प्रतिज्ञा नहीं टूटी, खंडित नहीं हुई। क्यों नहीं हुई ? इसलिये कि वहाँ त्रस के आरंभ का भाव नहीं था। भाव नहीं था तो वहाँ वध हो भी गया तो उसका पापकर्म श्रावक को नहीं लगेगा और उसका व्रत खंडित नहीं होगा। तीर्थंकर देवों का सिद्धान्त परिणामों के आधार पर, अध्यवसायों के आधार पर है। वाह्य क्रिया जितनी महत्त्वपूर्ण नहीं है, उससे अधिक महत्त्वपूर्ण है अंतर के परिणाम। अंतर परिणामों, अध्यवसायों के आधार पर वाहर चाहे हिंसा न करें, पर तन्दुल मत्स्य,

तन्दुल जितना शरीर, भापण पर बैठा है। बहुत-सी मछलियाँ बड़े मगरमच्छ की श्वांस द्वारा अंदर जाती है और श्वांस छोड़ने पर बाहर आ जाती है। उन्हें वह देखता है- "अरे यह कैसी मूर्खता है ? मुँह में इतने जीव आ रहे हैं, पर सबको छोड़ रहा है। इसके स्थान पर मैं होता तो क्या कर जाता ?" अब देखिये, वह खा एक को भी नहीं रहा है, पर भावना में उनकी हिंसा करके अन्तर्मुहूर्त में ही नरक का बंध कर लेता है।

मैं बहुत बार कहा करता हूँ कि प्रसन्नचंद्र राजर्षि के लिए सातवीं नरक की बात भगवान महावीर ने क्यों कही ? कोई 499 की और कोई 500 की बात कहता है। कितनी भी संख्या हो, कथा के कलेवर से मतलब नहीं है। श्रेणिक ने पूछा- वे आतापना ले रहे हैं। अभी इसी समय मरकर वे कहाँ उत्पन्न हो सकते हैं ? भगवान ने कहा- सातवीं नरक के मेहमान बन सकते हैं। यही बात मैं बता रहा हूँ कि सारा खेल भावों का है, हमारे मन में इंसानियत जगती है या नहीं। एक बंदर का एक्सीडेंट हो जाये तो बंदरों की जमात घेर कर खड़ी हो जाती है, ट्रैफिक जाम कर देते हैं, किन्तु इन्सान का एक्सीडेंट हो जाये तो कोई उधर झांकेगा या नहीं ? लोग साइड से निकल जायेंगे। कोई झांककर देखे भी तो शायद यह जानने के लिये कि प्राण निकल गये हैं या हैं। कई बार नजर भी आये कि प्राण हैं तो बचकर निकल जाता है, कौन झंझट मोल ले, कौन पुलिस केस में फँसे। केस बनेगा भी या नहीं, पर पहले ही मन भयभीत हो जायेगा। कायरता आ जायेगी। हम यह नहीं मानते कि धर्म के क्षेत्र में अंधेर नहीं है। पूर्ण धर्म में चले तो आज नहीं तो कल, धर्म का मीठा फल, धर्म का उजाला प्राप्त होकर रहेगा। ऐसा दृढ़ विश्वास हो तो व्यक्ति संकट पार हो सकता है। जो धर्म की रक्षा करता है धर्म भी उसकी रक्षा करता है। अतः धर्म को समझना जरूरी है। एकांगी दृष्टि से अपनाया तो धर्म के लाभ से वंचित रह जायेंगे।

आचार्यश्री नानेश से संबंधित एक घटना है। एक बार वे बम्बोरा क्षेत्र में विराजे थे। बाहर पंचमी के लिए पधारे, देखा संकरे नाले में भेड़ का बच्चा पड़ा था। नाला गहरा था। निकल नहीं पा रहा था। सोचा- रात भर अगर पड़ा रहा, तो जंगल का परिवेश है, जिन्दगी नहीं बचेगी। कोई

भाई नजर नहीं आ रहा था। पहले विचार किया कि गाँव में पहुँचकर किसी का ध्यान दिला दिया जाये, फिर सोचा- पहुँचेगे तब तक अंधेरा हो जायेगा। उन्हें स्थान का पता तो होगा नहीं, नहीं मिला तो क्या हाल होगा ? वह स्वयं भी निकलने को प्रयत्न कर रहा था। खाले में उतरकर सहारा दिया तो वह बाहर निकल गया। कोई पूछेगा साधु को यह कल्पता है क्या ? साधु की कल्प-मर्यादा जो भी हो, पर जब प्राण-रक्षा का प्रसंग हो तब कलेजा न कांपे, दया घट में न उपजे, तो धर्म कहाँ रहा ? कहा भी है- दया धर्म का मूल है। तो फिर धर्म की रक्षा पहली आवश्यकता है। बात दृष्टिकोण की है। स्पर्श करने का प्रायश्चित्त, अपने स्थान पर है, पर घट की दया भी महत्त्व रखती है। धर्म क्या होता है ? यह समझना आवश्यक है। यदि सामर्थ्य है, परन्तु दुःखी को देखकर भी रक्षा करने की तत्परता नहीं है, तो वहाँ धर्म कहाँ रहा ? धर्म कहाँ रह सकता है ? इसका निर्णय आप स्वयं कर लीजिये। कवि ने अनुभूति कर ली और कह दिया कि धर्म जिनेश्वर के चरण पकड़ लिये, फिर संसार में रहकर कर्म करे तो वैसा बंध नहीं होगा कि संसार में रुकना पड़े। उत्तराध्ययन की प्रियदर्शिनी की व्याख्या में स्पष्ट कहा गया है- धर्म में रुचि संसार सागर पार करने के लिये नौका है, मिथ्यात्व तिमिर को दूर करने के लिए दिनमणि जैसी है, स्वर्ग-मोक्ष सुख प्रदायिनी चिन्तामणि-सभा है, क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ होने के लिये निसरणी है, कर्मरिपु को पराजित करने वाली और केवलज्ञान, केवलदर्शन की जननी है, अतः धर्म के मर्म को समझें और धर्म में प्रवृत्त हों।

01.10.2000

# 8. रंग में भंग ना पड़े

**धर्म जिनेश्वर गाऊँ रंग सूं....।**

धर्म जिनेश्वर के चरणों में कवि आनंदघनजी के प्रार्थना स्वर मुखर हुए। कवि आनंदघनजी ने जो प्रार्थना की, हम उस प्रार्थना का आवर्तन कर रहे हैं। आवर्तन कहना ही ठीक रहेगा। आवर्तन करना अर्थात् 'रिवीजन' करना। जो भाव कवि के अंतर में प्रस्फुटित हुए, वे भाव इस प्रार्थना को पढ़ते हुए हमारे भी बनें यह जरूरी नहीं है। बन जाये तो प्रार्थना होगी, नहीं तो उसका आवर्तन ही कहा जायेगा। और वैसे भी उस प्रार्थना का एक प्रकार से आवर्तन ही किया जा रहा है।

वस्तुतः प्रार्थना उस समय ही घटित होती है, जिस समय व्यक्ति शांत-प्रशांत अवस्था में बैठा हो और परमात्मा की भक्ति में उसका चित्त सराबोर हो। उस समय की गई प्रार्थना ही प्रार्थना होती है और यदि नित्यक्रिया या रूटीन के रूप में प्रार्थना करें तो उसे आवर्तन ही कहा जा सकता है। तो विचार बनेगा कि यदि हम प्रार्थना नहीं कर पा रहे हैं, आवृत्ति ही हो रही है तो आवृत्ति करना उचित है या नहीं ?

स्वाध्याय के पाँच भेद कहे गये हैं- वाचना, पृच्छना, पर्यटना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा। गुरु-मुख से स्वीकार करना वाचना है; जो विषय वाँचते समय समझ में नहीं आया हो उसे पृच्छा करके हृदयंगम करना पृच्छना है और उसकी पुनः-पुनः आवृत्ति करना पर्यटना है। प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि आवृत्ति क्यों करना, किसलिए करना ? उत्तर है- इसलिए करना, जिससे वे संस्कार हमारे चित्त पर गहरे बन जायें क्योंकि अब तक हमारी जो आवृत्ति चली है, वह गलत दिशा में चली है। संसार के विषय, कषाय आदि ही चित्त में पुनः-पुनः आवर्तित होते रहे हैं। परिणामस्वरूप वे संस्कार हमारे चित्त में गहरे पैठ गये हैं। उनका

परिमार्जन कर नये शुभ संस्कार चित्त में विठाने हैं। इसके लिए आवश्यक है कि इन शुभ संस्कारों की पुनः-पुनः आवृत्ति की जाये। आवृत्ति करने से उस प्रकार के संस्कार गहरे हो जाएंगे। जब वे संस्कार गहरे हो जायेंगे तो फिर हमारे चित्त से भी वे ही भाव निकलेंगे और वे ही भाव चित्त में प्रस्फुटित भी होंगे। हम जानते हैं कि जो टंकी में भरा है, वही पानी नल से वाहर आयेगा। उसी प्रकार हमने चित्त में पुनः-पुनः आवर्तन से तीर्थंकरों के गुणों या जिनेश्वर की वाणी-संदेशों को जो भाव स्थिर किये हैं वे ही चित्त के भाव बनेंगे और उस श्रुत के अनुसार विचार भी प्रकट होंगे। जिन्हें हमने अपने चित्त में स्थिरता दी है, उनके अनुसार होने के कारण वे विचार भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होंगे। उन विचारों के आधार पर व्यक्ति जीवन को सही दिशा में मोड़ दे सकेगा क्योंकि सारा परिप्रेक्ष्य ही बदल गया होगा। पहले जहाँ विषय-कषाय रहे थे, वहाँ क्षमा मृदुता, सहजता, वीतरागता, समता, अहिंसा आदि का समन्वय हो गया होगा। उन विचारों के आधार पर गति बनेगी, तो वह भी अहिंसा, सत्य आदि से पुष्ट एवं संवर्धित होगी। अंतर में जब उन्हीं विचारों की झंकार होगी तो उन विचारों से शरीर के एक-एक अणु में जो प्रकंपन होगा वह आत्म-शुद्धि में तो सहायक बनेगा ही, कर्मों को हटाने में भी सहायक बनेगा।

हम जानते हैं कि जब कहीं कोई अवरोध आ जाता है, कचरा आ जाता है तो पानी डालकर उस कचरे या अवरोध को दूर किया जाता है तब पानी साफ आने लगता है। वैसे ही जहाँ-जहाँ आत्मप्रदेशों पर कर्म पुद्गलों के अवरोध लगे हैं, उन्हें वहाँ से हटाने में वे विचार तरंगें महत्त्वपूर्ण सिद्ध होगी। उस प्रकार के विचार अपने भीतर तरंगित हो जाये उसके लिए ही आवर्तन करना होता है-

**धर्म जिनेश्वर गाऊं रंग सूं,**
**भंग मा पड़सो हो प्रीत, जिनेश्वर....।**

जो प्रीत लगी है उसमें भंग न पड़े। विना प्रीति के रंग भी नहीं जमता। पहले प्रीति लगती है तो रंग लग जाता है। प्रीति नहीं लगे तो रंग भी जम नहीं पाता। इसलिए कवि कहते हैं भगवन् ! जो प्रीति लगी है और लगने से जो रंग जमा है, उसमें भंग नहीं पड़ जाये। भगवान महावीर ने कहा-

**परमत्थ संथवो वा सुदिट्ठ परमत्थ सेवणा वावि।**
**वावण्ण कुदंसण वज्जणा य सम्मत्त सद्दहणा....॥**

परमार्थ का परिचय करे, पर साथ में यह भी बताया कि जिसने सम्यक्त्व का वमन कर दिया है, जिसने कुदेव, कुगुरु और कुधर्म को स्वीकार कर लिया है ऐसे से बचाव करें। ऐसा क्यों कहा ? क्योंकि वैसा करने से भंग पड़ जाएगा।

एक बार रंग में भंग पड़ गया तो उस प्रकार का रंग फिर कब आये, कोई पता नहीं, कुछ कहा नहीं जा सकता। यदि एक ऐसी कोई चिनगारी छोड़ दी जाये, जिससे मन-मस्तिष्क आंदोलित हो जाये, तो क्या परिणाम निकलेगा ? मंथरा ने यही किया था। थोड़ा सा प्रयत्न किया तो कैकेयी का मन-मस्तिष्क विक्षेप में आ गया। वैसे ही सम्यक्त्व का वमन कर चुका व्यक्ति यदि कोई विषय कहेगा तो फिर हमारे भीतर की अवस्था परिवर्तित हो जाएगी। इसलिए कहा है भंग नहीं पड़ना चाहिये। ऐसे एक नहीं बहुत से आख्यान एवं उदाहरण आगमों में प्राप्त हो सकते हैं।

एक नवदीक्षित मुनि है, जिसने अभी-अभी ही दीक्षा स्वीकार की है, उसका गुरु के साथ तालमेल नहीं बैठ रहा है। गुरु भी परेशान, शिष्य भी परेशान। शिष्य सोचता है- कितने अरमानों से संयम स्वीकार किया था, पर यहाँ आने पर क्या मिला ? बार-बार टोका-टोकी। ऐसा नहीं करना, ऐसे नहीं बैठना, ऐसा नहीं बोलना, इसी प्रकार ऐसा नहीं करना, वैसा नहीं करना। ये कैसा साधु जीवन है, कैसे बसर करूँगा ? इतनी लंबी जिन्दगी कैसे काटूंगा ? गुरु भी विचार करते हैं- मैंने इसको दीक्षा दी, परन्तु यह जिस प्रकार प्रस्तुत हो रहा है उस कारण चिन्ता हो रही है कि जिन्दगी भर इसके साथ निर्वाह कैसे होगा ? संयोग से स्थविर भगवन् के पास एक दिन लघुमुनि ने अपनी वेदना प्रकट कर दी- "भगवन् ! मैं क्या करूँ ?" कारण यह था कि गुरु का कर्त्तव्य होता है- सारणा, वारणा, धारणा और इसलिए वे समय-समय पर शिष्य को स्मृति दिलाते रहते थे कि क्रियाएँ कैसी होनी चाहिये, संयमी जीवन की आराधना कैसे होनी चाहिये। कोई गलत प्रवृत्ति होती तो रोकते, ऐसा नहीं

करना। शिष्य प्रारम्भ में यह समझ लेता कि मुझे गुरु सही दिशा दिखा रहे हैं। किन्तु वीच में थोड़ी गड़बड़ी हो गई। बीच में तीसरे व्यक्ति ने एक शगूफा छोड़ दिया। कहा- देखो तुम इतनी भक्ति, विनय, सेवा करते हो, फिर भी तुम्हें वार-बार टोक रहे हैं। तुम्हीं को बार-वार संकेत करते हैं। ये भी कोई बात हुई ? दूसरे साधुओं से गलती होती हैं, पर उन्हें कुछ नहीं कहते, तुम्हें ही टोकते हैं। नवदीक्षित शिष्य के दिमाग में ये बात जम गई कि गुरु का मेरे प्रति दृष्टिकोण गलत है, हर वात पर टोकते हैं कि यह कैसे कर दिया, ऐसी बातें नहीं करनी चाहिये।

आचार्य पूज्य गुरुदेव श्री नानालालजी म.सा. नवदीक्षित अवस्था में थे। इधर आचार्य पूज्य श्री जवाहरलालजी म.सा. के सामने समस्या आई। युवाचार्य पद पर रहे हुए श्री गणेशीलालजी म.सा. का चातुर्मास बीकानेर के लिए स्वीकृत किया गया था, पर सरदारशहर की गंभीर समस्या आ गई थी। वहाँ चातुर्मास का प्रसंग आया। आचार्य जवाहर गंभीर मुद्रा में विराजे थे। पू. गणेशीलालजी म.सा. ने कहा- "गुरुदेव ! आज कोई विशेष बात है ? आप बहुत ज्यादा चिन्तन की मुद्रा में दिख रहे हैं ?" आचार्यश्री ने कहा- "युवाचार्यश्री जी, बात कुछ ऐसी ही है। सरदारशहर चातुर्मास कराना है, परन्तु वह क्षेत्र ऐसा है कि वहाँ किसी को नहीं भेजा जा सकता।" आज की स्थिति भिन्न है, किसी को भी भेज दिया जा सकता है, पर आचार्य जवाहर का युग ऐसा था कि राह चलते शास्त्रार्थ का चैलेंज मिल सकता था। अतः सोच-समझकर ही किसी साधु को कहीं भेजा जा सकता था। समय भी कम रह गया था। आषाढ़ आ चुका था। उन्होंने आगे कहा- तपती रेत, लपलपाती गर्मी, क्या करूँ यही विचार चल रहा है। युवाचार्यजी ने कहा- "जैसी आपकी आज्ञा हो।" पूछा गया- "साथ किसे भेजूं ?" उत्तर मिला- "जो दूसरों के साथ नहीं निभ सकें, ऐसे संतों को भेज दीजिये।" और पू. गुरुदेव के मुखारविन्द से सात संतों के विहार का आदेश हो गया। इन सात संतों में दो-तीन संतों की प्रकृति विषम थी। साधु बनने से कोई परमात्मा तो नहीं वन जाता है। ऐसे संत हर किसी के साथ खट नहीं पाते।

इधर पूज्य गुरुदेव आचार्य श्री नानालालजी म.सा. नवदीक्षित

अवस्था में थे। स्वास्थ्य अनुकूल नहीं था। बुखार की शिकायत थी, पेचिस की स्थिति रहती थी। वैसी स्थिति में वृद्ध संतों की सेवा में उन्हें बीकानेर छोड़ा गया। युवाचार्य श्री गणेशीलालजी म.सा. का विहार सरदारशहर की ओर हो गया। इतिहास की बातें सामने रख रहा हूँ। पूज्य गुरुदेव ने फरमाया था कि बीकानेर से वह विहार दर्शनीय एवं हृदयद्रावक था। जैसे राम अयोध्या से वनवास जा रहे थे तो जनता उमड़ पड़ी थी, वैसे ही युवाचार्य श्री गणेश के पीछे बीकानेर उलट पड़ा था। भक्तों की आँखों से अश्रुधार बह रह थी कि हमारे यहाँ स्वीकृत चातुर्मास सरदारशहर जा रहा है।

मैंने आपको बताया था कि नवदीक्षित मुनि नानालालजी को बीकानेर रखा गया था। एक संत ने उन्हें उत्तेजित करने के लिए कहा- ''देखिये, आपकी तबियत नरम रहती है, युवाचार्यश्री के मन में आपके लिए कोई स्थान नहीं है, छोड़कर चले गये।'' यह बात संत कह रहे थे। देखिये कुछ संत भी कैसे विचार वाले होते हैं ? कोई मंदबुद्धि वाले साधक भी होते हैं। और भी बहुत सी बातें कही, पर पूत के पाँव पालने में नजर आ जाते हैं। नानालालजी महाराज कच्ची मिट्टी के नहीं बने थे कि बहने लगते। उन्होंने जवाब दिया- ''महाराज, आप क्या बात करते हो, आचार्यश्री ने जो किया, वह ठीक है। आप पराये थोड़ी हैं। आप हैं तो गुरु को क्या चिन्ता ? आप संभालने वाले हैं।'' उनका मुँह बंद हो गया कि अब इनके सामने कभी बात नहीं करनी। विचार कीजिये कि यदि उस एक भड़काने वाली बात को मुनि नानालालजी मस्तिष्क में भर लेते तो 2-3 दिन बाद फिर कोई और बात आती। घर में क्लेश ऐसी ही फूट डालने वाली बातों के कारण होते हैं। पड़ोसन देवरानी के कान भरती है ''अरी बहू तुम क्यों दिन भर दौड़-दौड़ कर काम करती हो ? आखिर तुम्हारा भी तो जी है। तुम नई-नई हो, नहीं समझती हो।'' और यदि देवरानी वे बातें दिमाग में जमा ले और उसे लगे कि पड़ोसन मेरा हित चाहने वाली है, तो वहीं पर वह मात खा जाती है। वही पड़ोसन जो आज हितकारी लग रही है, कल घर में भेद रेखा खींच देगी, मकान में दीवार खड़ी करवाने वाली बन जायेगी। घर में तो दीवार बनेगी तब बनेगी प

दीवार पहले मन में खड़ी होती है, फिर मकान में। ऐसी बातें आज नहीं, अनादिकाल से होती रही हैं। सतयुग की बातें सुनते हैं कि मंथरा ने ऐसा ही किया था। अंजना महासती के लिए ननद कुछ बातें माँ से कहती है तो माँ भी उसे देश निकाला दे देती हैं। उस समय जैसी घटना आज हो तो पता नहीं क्या हो जाये ! पर जो व्यक्ति ऐसी फूट डालने वाली बातों से अपने आप को प्रभावित नहीं होने देता है, वह अपनी प्रतिभा का परिचय देता है। स्थविर भगवन् से लघुमुनि कहता है- मैं यहाँ कैसे रह पाऊँगा ? रस नहीं आता। अच्छी चीज भी फीकी लगती है। भूख नहीं है तो रबड़ी, कलाकंद, मलाई, बादाम का हलुआ इनमें भी रस नहीं आयेगा ? और कभी रस आयेगा तो सूखी रोटी में भी आ जायेगा।

आचार्य गणेश के समय की घटना है। पाँच संत विहार कर रहे थे। मार्ग में तीन दिन तक गोचरी का साधन नहीं बैठा। चौथे दिन संत अलग-अलग गोचरी हेतु गये। तीन गाँवों में घूम आये तो आधी जवारी की रोटी और थोड़ी सी खट्टी छाछ प्राप्त हुई। रोटी उसमें चूरकर, बाँट कर खाने लगे तो इतना आनंद आया जितना बीकानेर का रसगुल्ला खाते तो भी नहीं आता। ऐसे भोजन के सामने तो मिठाइयाँ और षट्रस भोजन भी फीके लगें। इसलिए ध्यान रखना चाहिये कि इन खाने के पदार्थों में स्वाद नहीं है। असली स्वाद तो अपने भीतर है। भूख लगी है, तो स्वाद आयेगा। भूख नहीं है तो हलुआ भी खाओगे तो स्वाद नहीं आयेगा। स्वाद जीभ में आता है या हलवे में आता है ? यदि पेट भरा है तो उबासियाँ आयेंगी। वैसे ही यदि साधु-जीवन में रमने नहीं लगे, तो साधु जीवन का स्वाद भी नहीं आएगा, वह भी रसहीन लगेगा। क्रियाएँ तो करेगा किन्तु वे औपचारिकताएँ लगेंगी। चाहे कोई भी क्रिया हो, प्रतिक्रमण हो या अन्य कोई क्रिया, यंत्रवत् आप वह कर तो लेंगे, पर अंतर के भाव उससे जुड़ नहीं पाएंगे।

स्थविर मुनि ने पूछा- "क्या बात है ?" उत्तर मिला- "मुझे हर समय गुरुदेव टोकते हैं- ये क्यों कर दिया, ऐसा करना था।" स्थविर मुनि ने विचार किया कि यह बालमुनि की अपनी पकड़ नहीं है, जरूर इसे किसी ने भड़काया है, जिसके कारण इसमें ऐसी मानसिकता पनप गई है।

स्थविर मुनि ने गुरु से बात की। गुरु ने कहा- मैं तो हित का प्रयत्न करता हूँ, पर वह अलग-थलग रहता है, खिंचा-खिंचा रहता है। स्थविर मुनि ने परीक्षण किया, उसकी उठ-बैठ देखी। एक बार बात पकड़ में आ गई, फिर उसी के माध्यम से इलाज प्रारंभ किया। यह इलाज दवा से नहीं, मनोवैज्ञानिक ढंग से किया। मुनि ने कहा कि यदि गुरु को द्वेष होता तो वे दीक्षित क्यों करते ? क्या आवश्यकता थी ? दीक्षा देकर परेशान तो नहीं करना चाहते थे ? दीक्षा के बाद बहुत दिन तक सब कुछ ठीक था किन्तु.... ? फिर ऐसा माहौल क्यों बना ? मुनि ने स्पष्ट कर दिया- अमुक ने ऐसी बात कही थी, फिर मैंने गौर करके देखा तो लगा मुझे ही टोकते हैं, किसी और को नहीं। इसी कारण मैं अलग-थलग चलने लग गया था। ध्यान रखिये यदि सही बात ज्ञात नहीं है तो मन मस्तिष्क विक्षिप्त हो जायेगा। फिर तीर्थंकर देवों की प्रार्थना कर नहीं पाओगे। मन में संताप बना रहेगा परिणामस्वरूप आनंद की जगह भीतर घुटन भर जायेगी। जीवन में जो रौनक आनी चाहिये वह नहीं आ पायेगी और खिला रहने के स्थान पर जीवन कुम्हला जायेगा।

हमारे आध्यात्मिक जीवन में रौनक कैसे आये ? इस प्रकार का चिन्तन रखकर उसे यदि बार-बार हम आवर्तित करेंगे तो चित्त में वैसे संस्कार जमेंगे। तब हो सकता है इस जीवन में साधु-जीवन भले न आये, पर आने वाले समय में साधु-जीवन कभी अवश्य प्राप्त होगा। अभी कुछ बिगड़ा नहीं है, बाजी हारे नहीं, बाजी हारने के बाद कुछ नहीं हो सकेगा। एक बार साधु-जीवन की आराधना कर ली तो निश्चित है कि देवगति से फिर मनुष्य जीवन और इस प्रकार की आराधना बनने के बाद कुछ भव करके, सत्-चित्-आनंदमय स्वरूप को प्राप्तकर शाश्वत शांति में उपस्थित हो जायेंगे।

02.10.2000

❖ ❖ ❖

# 9. कुचलो फन अहं का

धर्म जिनेश्वर गाऊँ रंग सूं....।

तीर्थंकर देव प्रभु महावीर ने भव्यात्माओं को प्रतिबोध देते हुए मनुष्य तन की दुर्लभता की ओर तो संकेत किया ही है, मनुष्य तन में रहते हुए वीतराग वाणी सुनने और सुनने के साथ ही उस पर प्रतीति, श्रद्धा-विश्वास होने को भी दुर्लभ बताया है, किन्तु उससे भी बढ़कर उन्होंने उस पर आचरण करने की बात कही है, क्योंकि यदि विश्वास में या श्रद्धा में अन्तर आता है, जो विषय सुना है, उसके श्रद्धान में कहीं पर भी उतार-चढ़ाव की स्थिति बनती है, तो आगे का आचरण सही नहीं हो पाता है।

एक व्यक्ति यात्रा कर रहा है। कुछ आगे बढ़ता है तो उसे मार्ग पर संदेह हो जाता है। जिस मार्ग पर जा रहा हूँ, वह सही है या नहीं ? यह सड़क गंतव्य तक पहुँचायेगी या नहीं ? इस पर पूरी यात्रा कर सकूंगा या नहीं ? तो वह लौटना चाहेगा या इधर-उधर देखकर चाहेगा कि कोई व्यक्ति मिले तो पक्की जानकारी लूं, फिर उस दिशा में बढूँ। यदि जानकारी नहीं मिल पाती है तो कदम बढ़ते जरूर हैं पर भारी मन से उठते हैं और जो गति होनी चाहिये वह बन नहीं पाती है। इसका मूल कारण है कि उसे पक्का विश्वास नहीं है कि वही मार्ग गंतव्य तक पहुँचाने वाला है। वैसे ही आध्यात्मिक क्षेत्र में जो क्रिया, गति, उपासना होती है उसके प्रति विश्वास न हो तो उसके विकास की अवस्था नहीं हो पाती उसके मन में संशय रहता है कि पता नहीं, जो मैं कर रहा हूँ उसका लाभ मिलेगा या नहीं ? मेरी आराधना सही होगी या नहीं ? यदि इस प्रकार के संशय की स्थिति लगातार बनी रहती है तो इसका मूल कारण है कि उस विषय का ज्ञान नहीं है, इसलिये कदम बढ़ नहीं पाते हैं। इसीलिये संकेत किया गया है-

### पढमं णाणं तओ दया।

जिस पर तुम्हें गति करनी है, उस विषय का ज्ञान करो। यदि ज्ञान सही हो गया, पक्का विश्वास हो गया तो फिर रफ्तार मंद-मंथर नहीं होगी। सही मन:-स्थिति से आगे गंतव्य की दिशा में बढ़ सकोगे।

कवि आनन्दघनजी धर्मनाथ जिनेश्वर के चरणों में प्रार्थना करते हुए कहते हैं- ''भगवन् ! अभी रंग लगा है और मैं तत्त्व के यथार्थ रूप को जान पाया हूँ, किन्तु मैं चाहता हूँ कि बीच में कोई भंग न पड़ जाये।'' भंग के अनेक कारण हो सकते हैं, पर उन्हें दो प्रमुख वर्गों- (1) बाह्य और (2) अंतरंग के अन्तर्गत रखा जा सकता है। पहले बाह्य कारण को समझें। कोई साधक साधना में बैठा है, उसके चित्त को कोई चलायमान कर दे। जैसे- रथनेमि का चित्त सती राजमति के कारण भग्न हो गया था। शास्त्रकारों ने कहा-

### भग्गचित्तो रहनेमि।

क्योंकि जिस रूप में साधना में लीन था, परमात्मा से संबंध जुड़ा था, शुद्ध आत्मतत्त्व पर निगाहें बनी थी, वह अवस्था भग्न हो गयी थी क्योंकि राजमति की तरफ लगाव बन गया और वृत्ति में एकदम परिवर्तन हो गया था। एकान्त गुफा में साधना करने वाला साधक छोटे से कारण से विचलित हो गया। उस विचलन के कारण शास्त्रकारों ने कहा कि- 'चित्त भग्न हो गया।' ऐसे ही आख्यान वैदिक साहित्य में भी प्राप्त होते हैं।

बड़े-बड़े ऋषि तपस्या में लीन थे, इन्द्र को भय हो गया कि ये तपस्या करके मेरा सिंहासन छीन लेंगे। बस, अप्सरा को प्रतिरूपित किया, उसने हाव-भाव दिखाये और ऋषि विचलित हो गये, तपस्या भंग हो गई। ये वाह्य कारण है। अंतरंग कारण क्रोध, मान, माया, लोभ आदि हैं। ये कारण भी उपस्थित हो जाते हैं।

रामायण में एक प्रसंग शवरी का आता है। शवरी भीलनी थी। शादी से विरक्ति हो गई। उसने विचार किया कि मेरे कारण इतने सारे पशु-पक्षियों की हिंसा होगी। बारातियों का भोजन बनेगा। एक मेरे संबंध से, शादी से कितने प्राणियों के प्राणों की वलि हो जावेगी ? कैसे विचार है। कहाँ से जन्म ले लेते हैं।। नहीं तो भील के घर जन्मी शवरी में

दया-करुणा के भाव कैसे उत्पन्न हो सकते थे।

बड़े-बड़े धार्मिक परिवारों में ऐसे बिचार नहीं पनपते, बल्कि अपने मौज-शौक के लिये और बड़प्पन दिखाने के लिए फाइव स्टार होटल में पहुँचकर वर-वधू की शय्या करने में मनो कोमल फूलों का उपयोग किया जाता है। कितने जीवों का घात होता है ? ये अर्थदण्ड है या अनर्थदण्ड ? क्या उसके बिना शय्या नहीं हो सकती ? क्या फूलों का घमासान अनिवार्य है ? किन्तु इसे समझने वाले कितने होते हैं ? मैं तो यहाँ तक सुनता हूँ कि जो श्रावक 12 व्रतों को लेकर चलने वाले हैं, उनकी संतानों की शादी में भी ऐसी क्रियाएँ होती हैं। वे 12 व्रती क्या करें, वे कहते हैं- मेरे वश की बात नहीं है। लड़के के मित्र नहीं मान रहे हैं। मित्र कहते हैं- ये तो होगा ही। समाज में प्रतिष्ठा है, नाम है, लड़के की शादी हुई है। समाज की परिपाटी है। वैसे तो घर की बेटियाँ नहीं नाचेंगी सड़क पर, किन्तु बड़े सेठ के घर शादी में वह कृत्य भी हो जाता है। दुहाई दी जाती है कि मित्र नहीं मानते, वश की बात नहीं है। ऐसी स्थितियां वनती है, कहीं न्यून कहीं अधिक। पर वह शबरी कहती है- मेरी एक शादी में, एक संबंध जुड़ेगा और कितनों का सम्बन्ध विच्छेद होगा ? ऐसी शादी में क्या धरा है। यदि शादी की, तो संभव है, की वैधव्य भी प्राप्त हो जाये। कोई जरूरी नहीं है कि पत्नी का ही पहले देहांत हो। सारे संवंध ही क्षणभंगुर हैं। आज पति-पत्नी का रिश्ता है, कल पता नहीं, रहे या न रहे। पहले उत्तम कौमों में ऐसी स्थिति नहीं आती थी कि कोई बाल-विधवा हो जाये तो दूसरी शादी कर दी जाये। प्रायः उसे जीवन-पर्यन्त वैधव्य व्यतीत करना होता था। उत्तम कुलों में नाते जाने की बातें भी नहीं थी, पर अव तो ऐसी कोई मर्यादाएँ नहीं रही हैं। नाता भी चालू हो गया है और इतर जातीय संवंध भी धड़ल्ले से हो रहे हैं। माता-पिता, संघ-समाज एक किनारे वैठा रहे और लड़का-लड़की कोर्ट में जाकर शादी कर लेते हैं। क्या कारण है ? क्यों ऐसा होता है ? कभी विचार किया ? इसके पीछे कारण है- सामाजिक अनुशासनहीनता। समाज-परिवार का प्रतिवंध नहीं रहा है। नहीं तो पहले कठोर सामाजिक व्यवस्था थी। क्या मजाल कि कोई गलत आचरण कर ले। यदि कर ले तो भर्त्सना होती थी। तव समाज का डर रहता था। पर आज समाज, परिवार, अभिभावक किसी का भय नहीं है, वल्कि ये स्वयं संतानों से

भयभीत रहते हैं। यही कारण है कि उच्छृंखलता बढ़ती जा रही है। ऐसी स्थिति में जब सारे नीति-नियम कानून-कायदे मर्यादाएँ एक तरफ रह जाती हैं, तब धर्म की बात बने ही कहाँ से।

किन्तु शबरी की अन्तर आत्मा जागृत हो चुकी थी कि मेरे विवाह के कारण हिंसा होगी, इसलिए शादी नहीं करनी। वह घर से भागकर गई ऋषियों के पास और कहने लगी- "शरण दे दो।" क्या कहा ऋषियों ने ? वे कहने लगे- "ऐ, अलग रह तू भीलनी है, हमारे धर्म को भ्रष्ट कर देगी।" उसने सोचा दूर ही रहूँ, मैं क्यों किसी का धर्म भ्रष्ट करूँ। ऐसे अवसर पर आक्रोश आ सकता है पर शबरी को गुस्सा नहीं आया। उसने सोचा मुझे क्या करना चाहिये ? इनकी सेवा-शुश्रूषा करूँ और कुछ न कर सकूं तो ये जिस मार्ग से नदी पर स्नान करने जाते हैं, उसे साफ कर दूं। उसने सुबह उठकर मार्ग की सफाई कर दी। सुबह ऋषि जा रहे थे, देखा आज मार्ग साफ है। एक ऋषि ने कहा- "मेरे तप के फल से देव आता है।" दूसरे ने कहा- "तेरे से बढ़कर मेरा तप है। तू तो बेला-तेला करता है, पर मैं तो मासखमण कर रहा हूँ।" ऋषियों में परस्पर झड़प चालू हो गई। एक कहता- मेरा तप बड़ा, दूसरा कहता- मेरा तप बड़ा। एक वृद्ध तपस्वी थे, जिनका नाम था-शृंगी। उन्होंने कहा- "क्यों विवाद करते हो ? निर्णय कल करेंगे। पहले देखें तो सही सफाई कौन करता है।" शृंगी ऋषि ड्यूटी पर लग गये। पिछली रात्रि में शबरी आई, सफाई करने लगी। ऋषि ने सबको उठाया- "देखो किसके तप का प्रभाव है ? देव कहाँ है ? ये ही देव हैं, इसे नमस्कार करो।" शृंगी ऋषि की बात सुनकर उनके तन-बदन में आग लग गई। क्या बोल रहे हैं ? यह तो भीलनी है। इसे हम नमस्कार करें ? उन्होंने कहा- "वह महातपस्विनी है।" ऋषि कहने लगे ये तो ऋषियों का अपमान है।

अब विचार कीजिये तपस्वियों का भी मान-सम्मान !! मान-सम्मान लेकर निकलें तो तपस्वी कहाँ से बन गये ? भगवान महावीर ने साधु का एक नाम भिक्षु दिया है। भिक्षु किसे कहते हैं ? जो भिक्षा से जीवनयापन करे। रहीम कवि ने कहा है-

**मांगण वाला मर गया, जो कोई मांगण जाय....।**

किसी के सामने हाथ पसारना हो तो ? समाज के लिए फिर भी हो जाये, पर स्वयं के लिए हो सकता है ? भगवान ने साधु के लिए परीषह बताया कि साधु बने, फिर गुरु कहे और गोचरी जाये। कोई कहे कि "शर्म आती है। मैं कैसे जाऊँ, इतने बड़े सम्पन्न घर में, राजकुमार के रूप में जन्मा, फिर घर-घर रोटी मांगता फिरूँ ? मैं नहीं जाता।" तो भगवान कहते हैं वह परीषह से विचलित होता है। माथे में अभी भरा है कि मैं बड़े सेठ का लड़का हूँ, माँगने कैसे जाऊँ। रहीम कहते हैं- "मर गया", भगवान ने कहा- "भिक्षा के पहले मार डालो। किसे ? 'अहं' को। सारे भ्रम 'अहं' के पीछे जुड़ते हैं। भगवान कहते हैं- पहले अहं को इतना नमा दो कि वह फन उठा न सके, तभी तूं भिक्षा प्राप्त कर पाएगा, नहीं तो घरों में जायेगा तो जरूरी नहीं कि हर जगह सम्मान मिले। कहीं कहा जायेगा अन्नदाता ! कृपा करो पधारो, पर कहीं-कहीं विपरीत हो सकता है। सुनना पड़ सकता है- हट्टा-कट्टा है ! कमाकर खा नहीं सकते, बन गये साधु !! निकल यहाँ से।"

पू. गणेशाचार्य ने भिक्षा के लिए भ्रमण करते हुए एक घर में प्रवेश किया। मालिक बच्चे को गोद में लेकर बैठा था। आचार्यश्री मुनि अवस्था में थे। पूछा- "रसोई बनी हुई है। हम साधु हैं।" उत्तर मिला- "निकल यहाँ से। हट्टा-कट्टा है, कमाकर खा नहीं सकता।" मुनिश्री ने कहा- "भाई, गुस्सा मत करो। हम जबरदस्ती नहीं लेते हैं।" आचार्यश्री लौट पड़े। ज्योंही एक पैर देहली के बाहर रखा, एक भीतर था। उसने पीछे से आवाज दी- "ले ले, आया है तो ले जा।"

क्या करना ऐसे समय में ? कहीं से आपको निमंत्रण कार्ड मिला था ? घर के सदस्य बोले थे कि पधारना ही पड़ेगा ? पधारने के बाद कोई तवज्जो न दे तो ? आप भी बैठे हैं, दूसरे भी बैठे हैं। पड़ोसी को आग्रह करके मिठाई परोस रहे हैं और आपको कोई पूछे ही नहीं। सेठजी ! कैसा लगेगा ? भले कितनी ही मिठाई परोसे पर वहाँ मिठास आयेगी ? मन तो कहीं और लगा है। मन में लगेगा, खाना है, क्या करूँ ? पर कवल गले में अटकता नजर आएगा। उतरेगा नहीं। इसलिए कहा है- साधु को, इस 'अहं' फन को समाप्त कर देना है, नहीं तो भिक्षाचर्या नहीं कर पाएगा। वहीं तड़क जाओगे कि तू कौन है बोलने वाला ? पर साधु

को ऐसा बोलना नहीं कल्पता। उसका घर नहीं है, मालिकी की सामग्री नहीं है कि अधिकार जताये। वह घर में पहुँचा, चीजें पड़ी हैं पर मालिक धाम नहीं रहा है। सब्जी रोटी के सिवाय दूसरी चीज के लिए कहता नहीं है तो भी ऐसा उफान नहीं आना चाहिये। यदि उफान आता है तो भी भंग पड़ता है।

## धर्म जिनेश्वर गाऊँ रंग सूं.....।

ये भंग पड़ गया। ये है अंतरंग। ऐसे अंतर के भंग भी अनेक आ जाते हैं और कवि आनन्दघनजी कहते हैं- ये प्रीत, ये जो रंग जमा है, इसमें विघ्न पैदा न हो जाये।

पूज्य आचार्यश्री गणेशाचार्यजी ने यह नहीं कहा- रहने दे, तेरी आधी रोटी ! तू आधी दे देगा तो क्या फर्क पड़ेगा। मेरे लिये और घर हैं। उन्होंने तो कहा- "भाई, भावना बन गई है तो दे दे।" ये है साधु का स्वरूप। ऐसा स्वरूप बन जाये तो फिर साधु को भंग नहीं पड़ेगा। ये है शुद्ध आत्म-स्वरूप में रमणता। यह रमण बन जाता है तो बाह्य क्रियाएँ उथल-पुथल नहीं मचायेंगी। नहीं तो थोड़ी-सी भी विपरीत स्थिति में हम उथल-पुथल में पड़ जायेंगे। ये उथल-पुथल दर्शा रही है कि अभी बहुत यात्रा करनी है और मंजिल दूर है। मंजिल के लिए तैयारी करनी पड़ेगी, चाहे आज करें या कल। पर इतनी तैयारी तो करनी ही पड़ेगी कि कैसी भी परिस्थिति आये भीतर उथल-पुथल न हो।

ऋषियों के मन में उथल-पुथल मच गई कि शृंगी ऋषि ने कैसे कह दिया कि "नमस्कार करो।" हम भीलनी को नमस्कार करें ? ये तो अपमान हैं। पहले वे माफी मांगे, नहीं तो आश्रम से बहिष्कार कर दो। उनका बहिष्कार कर दिया गया। वे निकल गये और शबरी के साथ रहने लगे। कहा- "तुम मुझे पिता मानों तो मैं रहने को तैयार हूँ। ज्ञान की बातें सुनाऊँगा।" शबरी प्रसन्न हो गई। कहा- "इससे बढ़कर मेरा सौभाग्य क्या होगा ?" वे शबरी की कुटिया में रहने लगे, शबरी को आनंद हो गया। वे ज्ञान की बातें सुनाते और वह सेवा में निमग्न रहती। आगे जो घटना घटी वह तो रामायण से जान चुके होंगे कि आने वाले समय में राम कहाँ पहुँचे। ऋषि आश्रम में या कुटिया में ? ऋषि कहते हैं- राम भी

भूले। भगवान महावीर के लिए भी कहते हैं कि चूक गये। क्योंकि उनके कर्म का उदय था, इसलिए चूक गये। पर यथार्थ में भगवान महावीर आचारांग में कहते हैं- मैंने अपने जीवन में प्रमाद का सेवन किया नहीं। जब उन्होंने प्रमाद का सेवन नहीं किया तो कैसे कह दें, चूक गये ? पर अपनी-अपनी स्थिति से विचार बनते हैं, वे ही व्यक्त कर देते हैं। ऋषि भी कहने लगे- राम चूक गये और वे तालाब के पास गये तो देखा वहाँ पानी में जीव बिलबिला रहे थे। राम से अनुनय विनय की। राम ने कहा- "मेरे वश की बात नहीं है। शबरी के पैर धोकर पानी डालो तो तालाब का पानी शुद्ध-स्वच्छ हो सकता है।" मरता क्या न करता। वे पैर धोने लगे तो शबरी ने कहा, आप यह क्या करते हैं ? मैं स्वयं कर दूं और जैसे ही वह पानी डाला गया तालाब का पानी शुद्ध हो गया। कथा अपनी जगह है, किसने क्या किया, हमें इससे मतलब नहीं है। वस्तुतः हृदय शुद्ध होना चाहिये।

धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई।

ऋजु-हृदय में ही धर्म ठहरता है। आड़ा-टेढ़ा, माया-जाल, कपट-युक्त हृदय हो, तो वहाँ धर्म टिक नहीं पाता। शास्त्रों में कहा गया है- 'मायी मिथ्यादृष्टि' जो माया करता है वह धीरे-धीरे मिथ्यात्व में चला जाता है। एक बार विपरीत अवस्था बन गई, तो फिर उद्धार कठिन हो जाता है।

हम भी चिन्तन करें, हमारी अवस्था कैसी बन रही है। शुद्ध आत्मा पर दृष्टि है या नहीं ? हम परमात्मा की उपासना तो कर रहे हैं, पर हृदय साफ हुआ है या नहीं ? नहीं हुआ है तो सार्थक उपासना-भक्ति कर नहीं पाएंगे। तब रंग में भंग पड़ेगा। मजा किरकिरा होता रहेगा। यदि मजा किरकिरा नहीं होने देना है तो सर्प के फन रूपी अहं को कुचलना पड़ेगा। तभी धर्म का रंग अपने अन्तर में लग पायेगा।

03.10.2000

❖ ❖ ❖

# 10. ऊँची रहे यह मूँछ हमारी

शांति की कामना करना जितना सरल है, शान्ति प्राप्त करना उतना ही कठिन है। कठिन क्यों है ? जब हम कामना करते हैं, शांति की चाह करते हैं तो फिर प्राप्त करना कठिन क्यों है ? कठिन इसलिए है कि जहाँ हम शांति ढूंढ रहे हैं, वहाँ वह है नहीं और जहाँ वह विद्यमान है, वहाँ हम खोज कर नहीं पा रहे हैं। शांति बाहर प्राप्त हो नहीं सकती। हमने बहुत बार सुना है और जानकारी भी रखते हैं कि वह भीतर है, बाहर वह प्राप्त नहीं होती। फिर भी हम उसे बाहरी वस्तुओं या बाहरी परिवेश में प्राप्त करने की इच्छा करते हैं। चाहे वे खाने-पीने, रहने के साधन हों या परिवार के संयोग की स्थितियाँ हों, इन सब में हम शांति को ढूंढ रहे हैं। हम खोज कर रहे हैं, किन्तु वहाँ है नहीं। इसीलिए कहा है- कामना करना सहज जरूर है, प्राप्त करना उतना सहज नहीं है।

शांति कहीं अप्राप्त नहीं है। उसे कहीं से प्राप्त करना नहीं है, वह तो अपने आप में प्राप्त है, पर हम प्राप्त का लाभ उठा नहीं पा रहे हैं। चीज कहीं अलग हो, उपलब्ध न हो, उस पर ताला लगा हो तो प्राप्त नहीं हो, पर वह तो हमें प्राप्त है किन्तु वह ढकी हुई है। हम उस ढक्कन को खोलते नहीं, जिससे वह ढकी है। उस कपड़े को हटाते नहीं और कहते हैं- प्राप्त नहीं है।

लोग कहते हैं- आज विजयादशमी है। हालाँकि आज दूसरी नवमी है, पर घड़ियों में दशम का योग होने से विजयादशमी कही जा रही है। जो भी हो, उसके साथ अनेक संदर्भ जुड़े हैं। कोई कहता है कि आज के दिन अन्याय-अत्याचार के विरुद्ध राम ने युद्ध छेड़ा था। कोई कहता है कि आज के दिन अन्याय-अत्याचार के विरुद्ध युद्ध में विजय प्राप्त हुई थी। उस समय क्या हुआ था, क्या नहीं हुआ था, हमें उन घटनाओं के इतिहास में नहीं अटकना है, मूल मुद्दे की बात कहनी है और मुद्दे की बात

है कि अन्याय-अत्याचार विषय-वासना के रावण से युद्ध करना है और उस पर विजय प्राप्त करनी है। यही लक्ष्य राम का रहा था। उसी के संदर्भ में सारी स्थितियों को देखें। आज किन-किन ऊपरी बातों को लोग पकड़ कर बैठ गये हैं, पता नहीं। बहुत से क्षेत्रों में रावण का पुतला बनाकर उसमें बारूद भरकर आग की चिनगारी लगा दी जाती है और कह दिया जाता है कि हमने रावण का वध कर दिया। क्या सिर्फ इतनी-सी ही बात है ? इससे तो कुछ आना जाना नहीं। पुतले को जलाने से क्या मिलता है ? रावण के प्रतीक को भी हम समझें।

रावण बहुत नीतिज्ञ था। जब तक वह सदाचार के पथ पर चला, अर्ध भारत पर उसने विजय प्राप्त की। चारों तरफ विजय का डंका बजाया, किन्तु सभी दिन एक समान नहीं होते। रावण दिग्विजय के लिए निकला। अलकापुरी के विजित होने के भय से उसके सम्राट कुबेर ने किले के चारों तरफ अपने विद्या बल से आग लगा दी कि कोई उसमें प्रवेश न कर सके। उन परिस्थितियों में कुबेर की महारानी हेमा ने विश्वस्त अनुचर के साथ एक परची भेजी रावण के पास कि वह उस पर कायल हुए जा रही है। यदि उसे स्वीकार कर लिया जाये तो अलकापुरी पर विजय का सूत्र वह प्रस्तुत कर सकती है अर्थात् कुबेर को हरा कर रावण राज्य विजय का झंडा फहरा सकता है। आज की राजनीति में ऐसी गुड़-लिपटी बातें बहुत मिल सकती हैं। रावण उस जाल में नहीं फँसा। उसने परची फाड़ दी और कहा- "मुझे अलकापुरी मिले या न मिले, चाहे मेरी अपनी लंका भी चली जाये किन्तु मैं अपने दामन पर दाग नहीं लगा सकता। मैं जीवन बेच नहीं सकता। मैं अपने चारित्र के साथ सौदा नहीं कर सकता।" आप विचार करिये रावण के चरित्र के इस पक्ष पर। बहुत से व्यक्ति रावण के इस पक्ष से अनभिज्ञ हैं। रावण की अनीति यह रही कि वह सीता का हरण कर ले आया, पर उसने सम्मानपूर्वक रखा, जबरदस्ती नहीं की। उसकी प्रतिज्ञा थी कि जो स्त्री तैयार होगी, उसी के साथ वह विषय-भोग का सेवन करेगा, किसी के साथ बलात्कार नहीं करेगा। अपनी प्रतिज्ञा पर वह अंतिम क्षण तक अडिग रहा। उसका अपराध इतना ही था कि वह सीता का हरण कर ले आया था और उसे छोड़ना नहीं चाह रहा था। निश्चित रूप से यह एक अपराध था और इस अपराध के पीछे दूसरे अपराध पलते चले गये। रावण सीता को रखता या

लौटाता यह भी महत्त्व की बात नहीं है क्योंकि रहते हुए वह रावण की बन नहीं गई थी, बन नहीं पा रही थी। पर मूल में देखा जाये तो रावण का अहं इसके लिए उत्तरदायी था। उसका तर्क था कि मैं कोई कायर नहीं हूँ कि जिस सीता को लेकर आया हूँ उसे ऐसे ही छोड़ दूं। एक इस 'अहं' की रक्षा के प्रयासों ने रावण से बहुत अकरणीय कार्य करवा लिये। परिणामस्वरूप उसकी भीषण दुर्गति हुई और आज किसी के घर लड़का जन्म ले और कोई सलाह दे कि जिस राशि में जन्म हुआ है उसके अनुसार इसका रावण नाम रख लो तो कितने माता-पिता इस सलाह को स्वीकार करेंगे ? तब विचार करिये कि जिस कारण से रावण का विनाश हुआ, वह कारण हमारे भीतर भी मौजूद है या नहीं ? हमारे भीतर भी 'ईगो' टकराता है या नहीं ? अपने 'अहं' की बात है तो पकड़ी हुई पूंछ छोड़े कैसे ? चाहे दुलत्तियां कितनी ही खा लें, पर पकड़ी हुई पूंछ छोड़ नहीं सकते। ऐसा 'ईगो' आज भी हमारे भीतर टकराता रहता है। दूसरे प्राणियों में हो सकता है अपेक्षाकृत कम हो, पर मनुष्य में 'अहं' की मात्रा, अपनी प्रतिष्ठा का विचार, विशेष है। किसी भी विचार को वह प्रतिष्ठा का प्रश्न बना लेता है तो उसको छोड़ नहीं पाता है। 'बात के सवाल' या 'अहं की रक्षा' की बात के पीछे हमने अपनी क्या दशा बना ली है ? बात के सवाल के पीछे ही व्यक्ति मर-मिटने को तैयार हो जाता है।

दो सेठों के नौकर सब्जी मार्केट में पहुँच गये। मोल-भाव होने लगा। एक दुकान पर थोड़ी-सी भिण्डी थी। एक ने कहा- मुझे लेनी है, दूसरे ने कहा- मुझे। एक ने कहा- मैं पाँच रुपये दूंगा, दूसरे ने दस रुपये मोल लगाया। बतलाया यह जाता है कि एक सेठ का नौकर उतनी भिण्डी 3600 रुपये में लेकर पहुँचा और सेठजी को बताया कि ऐसी स्थिति आ गई थी। बात का सवाल था, अमुक सेठ का नौकर भी था, यदि वह ले जाता तो इसमें आपकी नामोशी होती, इसलिए बात रखने के लिए चाहे जितना लगे, मैं 3600 रुपये में लेकर आया हूँ। सेठ ने भी कहा- तुमने अच्छा काम किया, पैसे की कोई बात नहीं, 3600 रुपये तो आयेंगे, चले जाएंगे पर बात हमारी ऊपर रहनी चाहिये, मूँछ हमारी ऊँची रहनी चाहिये। ऐसे लोग यह सोच नहीं पाते कि ऐसी बात के सवाल में क्या पड़ा है ? क्या धरा है ? किन्तु ऐसी अवस्था बनती रही है। वस्तुतः रावण के स्वरूप को जान लें और गहराई से उस पर विचार करें।

लोग कहते हैं- रावण के दस सिर थे। आध्यात्मिक दृष्टि से विचार करें तो रावण की लंका स्वर्ण से निर्मित थी। उसके पिता का नाम था विश्रवा, माता थी कैकसी और भाई थे कुंभकर्ण और विभीषण। अब लंका का स्वरूप देखें तो परिग्रह का मूल लालच, लालच रूपी लंका, महामोह रूपी राक्षस विश्रवा जहाँ से सारे अनीति और परिग्रह का पोषण होता है। उससे जन्म लेने वाला है- मिथ्यात्व रूपी रावण। मिथ्यात्व के भेद कितने हैं ? 10 भेद भी है और 25 भी बताये जाते हैं। किन्तु सामान्य रूप से जीव को अजीव कहें तो मिथ्यात्व, अजीव को जीव कहें तो मिथ्यात्व आदि दस भेद है और यही दशमुखी रावण है। इन्हें छोड़ेंगे तभी रावण से छुटकारा हो पाएगा और जब तक इन्हें पालते रहेंगे तब तक चाहे हम पुतले को जला दें, किन्तु अंदर उसका पोषण करते रहेंगे। जब तक उसका पोषण होता रहता है, तब तक मिथ्यात्व से छुटकारा नहीं है। माता कैकसी अर्थात् क्लेश है। क्लेश की पैदाइश होती है- राग-द्वेष से और पूरा का पूरा विषय अज्ञान से परिपूर्ण रहता है।

इस अज्ञान परिपूर्ण अवस्था से यदि छुटकारा चाहते हैं तो दशरथ के परिवार पर दृष्टिपात करें। 'दशरथ' अर्थात् 'दस यति धर्म'। उस धर्म से उस धर्म का निष्पादन होता है, जिसे हम राम के रूप में ले सकते हैं। कौशल्या संवर रूप है। यदि संवर को स्वीकार कर लिया तो धर्म की पैदाइश होगी। धर्म तो हम चाहें किन्तु संवर को स्वीकार नहीं करें तो क्या धर्म निपजेगा ? धर्म किसमें है ? व्याख्यान को भी हम श्रवण कर रहे हैं, वहीं पर संवर की आराधना हो तो धर्म निपजा लेंगे। संवर नहीं है तो वहाँ आश्रव के द्वार खुले रहेंगे तो विश्रवा आदि रावण का परिवार प्रविष्ट हो जाएगा। विश्रवा कितने ही रावण पैदा करेगा। बाप बैठा है, तो रावण पैदा होंगे। संवर का प्रवेश हो तो रावण की पैदाइश नहीं होगी और भीतर का रावण भी समाप्त हो जावेगा। किन्तु भीतर का समाप्त करना न चाहें, निरन्तर बढ़ावा देते रहें तो कैकसी कई रावण पैदा करती रहेगी। एक तरफ हम धर्म की आराधना करना चाहते हैं किन्तु अपने अहं के पोषण के पीछे कितनी-कितनी क्रियाओं में बहते चले जाये तो शांत भूत अवस्था तिरोहित होती रहेगी। अतः बंधुओं ! रावण को तो हम समाप्त करना चाहें, पर अपने भीतर पलने वाले रावण को समाप्त नहीं करें तो फल की प्राप्ति कैसे होगी ? हम तो भगवान महावीर की कथा सुनने-सुनाने की

पात्रता भी नहीं रखते। कहाँ प्रभु महावीर का जीवन, कहाँ उनकी कथा और कहाँ उसे वांचने, सुनने वाले हम जैसे। वे वीतराग देव के रूप हैं और हम राग-द्वेष में पड़े हुए हैं और वीतरागता को सुनना चाहते हैं, कैसे सुन पाएंगे ? बीच के आवरण उसे प्राप्त नहीं होने देंगे। आपने लालटेन देखी होगी। कैसी होती है ? नीचे केरोसीन भरा रहता है, ऊपर बत्ती निकली रहती है। चारों तरफ काँच का ग्लास रहता है। कोई उसे जलाना चाहे और माचिस पर तीली रगड़कर काँच पर लगाता रहे और सोचे कि ऐसे बत्ती को जला लूँ, तो क्या वह बत्ती जला पाएगा ? वैसे ही राग-द्वेष की काँच की चिमनी हमने ओढ़ रखी है, पर अंदर की बत्ती में आग पैदा कर उसे जलाने का प्रयत्न करते हैं। किन्तु 'ईगो' रूपी काँच का ग्लास या चिमनी ऐसी मजबूत है कि उसे पार कर वीतराग देवों की बोध रूपी वह चिनगारी अंदर प्रविष्ट हो नहीं पाती है, जिसके कारण अंदर प्रकाश प्रकट हो नहीं पाता है।

रावण के तो दस ही मुँह थे, पर हम कितने रूप बदलते हैं ? सुबह से शाम तक न जाने कितने तेवर बदलते हैं। कपड़े बदलने की बातें जाने दीजिये। कपड़े तो कई बार बदलते हैं, पर कपड़ों से बढ़कर हमारे रूप हो गये हैं, जिन्हें हम बदलते रहते हैं। कभी प्रतिष्ठा का, तो कभी बड़े धर्मात्मा का, कभी किसी का, कभी और किसी का। इस प्रकार रूप बदलते हैं, क्यों बदलते हैं ? जब भीतर अनेक प्रकार के रंग भरे हुए हैं, तो जब उन रंगों की पूरी धुलाई न कर ली जाये तब तक उज्ज्वल-निर्मल रूप सामने कैसे आ सकता है ? भगवान महावीर के माता-पिता ने विचार किया लड़के की शादी कर दें। हम तो अभिलाषाओं में पड़े रहते हैं। अधिक से अधिक लाभ हो, अधिक से अधिक मुनाफा हो, यह हमारी दृष्टि रहती है। पुत्र हो गया तो चाहेंगे बहू आ जाये। फिर क्या मन भर जायेगा ? नहीं। फिर आगे चाहेंगे पोते का मुँह देख लें। बेटे से जितना लगाव नहीं, उतना पोते से। जितना मूल प्यारा नहीं, उतना ब्याज प्यारा। पोता हो गया फिर लालसा बढ़ेगी कि पोते का विवाह हो जाये, चक्रवृद्धि ब्याज चालू हो जायेगा कि पड़पोता हो जाये तो स्वर्ण निसरणी चढ़ लूं। चढ़ पाते हो निसरणी ? इतनी छोटी कि अंगुली भी नहीं आ पाये, पता नहीं लोग कहते हैं कि अंगूठा टिका देते हैं। क्या इससे कल्याण हो जाएगा ? यदि लालच रूपी लंका में उलझे रहे तो न जाने कितने रावण

पैदा हो जाएंगे। इसलिए समझिये असली सोने की निसरणी होती है-संयम और तप। यदि संयम और तप की निसरणी पर चढ़े तो निश्चित रूप से मंजिल की ओर ऊपर बढ़ेंगे। संयम-तप कहाँ ले जाएगा ? शास्त्रों में कहा गया है-

**धम्मो मंगल मुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो....।**

जिसका मन सदा अहिंसा, संयम, तप में लगा रहता है, वह ऊपर चढ़ता जाता है। एक तरफ अहिंसा का बाँस है, दूसरी तरफ संयम का बाँस है, बीच में तप रूपी पगतिये लकड़ियां हैं। ऊपर चढ़े तो-

**देवा वि तं नमंसंति।**

देव भी नमस्कार करेंगे। वे करें न करें, कोई मायने नहीं रखता। जो अहिंसा-संयम-तप में चल रहा है, उसे कोई मतलब नहीं कि कौन नमस्कार कर रहा है, कौन नहीं। नमस्कार करें तो हर्ष नहीं, नहीं करे तो कोई विषाद नहीं। कुछ चला तो नहीं गया। पर यदि नमस्कार की चाह बन गई तो निश्चित रूप से हम अपनी शांति को ढकने वाले बन जायेंगे। शान्ति जो पहले से ही ढकी हुई है उसे और ढकने का उपक्रम हो जायेगा।

रावण की शान्ति गुम होने का कारण भी उसकी चाह थी, उसका अहंकार था। यदि वह अपने भीतर ऐसा नहीं सोचता कि 'ऊँची रहे यह मूँछ हमारी', तो शायद उसके शान्ति कायम रहती और उसकी दुर्गति नहीं होती। पर 'ऊँची रहे यह मूँछ हमारी' की विचाराधारा ने मनुष्य की शान्ति को छीन लीया और उसे दुर्गति में धकेल दिया। इसलिए इस मूँछ के भाव को ढीला करना ही रावण पर विजय प्राप्त करना है।

07.10.2000

❖ ❖ ❖

# 11. अनन्त शान्ति के लिये

### शान्ति जिन एक मुझ विनती....।

कभी-कभी व्यक्ति सोचता है जगत् अशान्ति से भरा हुआ है। परिवार में रहता हूँ तो वहाँ भी वहुत अशान्ति है। जहाँ भी जाता हूँ, चारों तरफ अशान्ति ही अशान्ति दृष्टिगत होती है। उस अशान्ति से बचने के लिए सोचता है मुझे एकांत में चले जाना चाहिये। वह जंगल में भी चला जाये पर जंगल में शान्ति मिल जाये, कोई जरूरी नहीं। कभी व्यक्ति सोच लेता है, चलो थोड़ी देर संतों के पास, वहाँ शान्ति मिल जाएगी। क्या शान्ति मिलती है संतों के पास ? यदि मिलती है तो भाव क्या है ? मोंल क्या है ? पता नहीं। फिर कैसे मिलेगी ? संतों ने व्याख्यान में जो कुछ कहा, सुनने वालों ने सुना। पर गुना भी क्या ?

संतों ने वताया कि भगवान महावीर ने कहा है- आरंभ-परिग्रह अशान्ति के मूल हैं। परन्तु व्यक्ति आरंभ में लगता है और आरंभ के साथ परिग्रह का पुट भी रहता है तो वह आरंभ से जुड़ता है और आरंभ से अनेक प्रकार की रचना भी करता है। जैसे- मकड़ी जाले वुनकर उसी में आवद्ध होती है और उसमें उलझकर ही मर जाती है, वैसे ही व्यक्ति मूल में आरंभ-परिग्रह को न छोड नित नये आरंभ-परिग्रह प्रारंभ कर सोचता है कि शान्ति मिल जाये। पर कहाँ से मिलेगी ? रेती में तेल होता नहीं है, पर कोई सोचे कि घाणी से तेल निकाला जाता है, जैसे तेली तिल से निकालते हैं, तो मुख्य चीज घाणी है। मेरे पास तिल नहीं है तो क्या हुआ, ये रेत घाणी में डालकर पेलकर, तेल निकाल लूँ। पर क्या होगा ? भले सेर भर या क्विंटल भर रेत डालकर पेल लें, पर एक वूंद तेल भी नहीं निकलेगा। यदि एक वूंद भी आ जाये तो फिर अनेक वूंदे भी पेल कर प्राप्त कर लेंगे। किन्तु आज तक का यह अनुभव रहा है कि रेत से तेल नहीं निकलता और उस अनुभव को ही लोग प्रमाण मानते हैं। यहाँ कितने व्यक्ति हैं जो रेत पेलकर तेल निकालने का प्रयत्न करेंगे ? एक भी नहीं, क्योंकि वे जानते हैं कि वालु पेलने से तेल नहीं निकलता, इसलिए वे

ऐसा प्रयत्न ही नहीं करते। किन्तु वे ही लोग जो जानते हैं कि परिग्रह में शान्ति नहीं है, वे भी उसी में लिप्त होकर शान्ति की खोज करते हैं। सोचते हैं शान्ति मिल जाएगी। परिवार बढ़ रहा है इसलिए ऑफिस, फैक्ट्री आदि भी बढ़ानी हैं। कारोबार बढ़ाना है। वे समझते हैं कि ऐसा करने से शान्ति मिल जाएगी, पर क्या आरंभ-परिग्रह बढ़ाने से शान्ति मिलेगी ?

एक बहिन ने महाराज का व्याख्यान सुना। महाराज ने आरंभ-परिग्रह पर बहुत चोट की थी। आरंभ से कैसे-कैसे कर्म का बंध होता है, यह भी उन्होंने बताया था। आरंभ जो भी हो, निश्चित है कि उसके साथ हिंसा का संबंध जुड़ा होता है। आप कोई भी आरंभ कीजिये, पर कोई ऐसा आरंभ नहीं, जिसके साथ हिंसा न जुड़ी हो। साधु विहार करते हैं, चलते हैं, हिंसा होती है या नहीं ? चलते हैं उससे हिंसा संभव है। संभव ही नहीं, होती ही है। साधु गोचरी जाते हैं उससे भी हिंसा होती है। आप कहेंगे कैसे ? उनके तीन करण, तीन योग से त्याग है। फिर उन्हें विहार, गोचरी के लिए नहीं जाना चाहिये ? एक साधु कुछ भी गमनागमन की क्रिया नहीं कर रहा है, बैठा हुआ है। बैठे हुए भी मन में चिन्तन चल रहा है, काय के योग का प्रवर्तन हो रहा है, चाहे वह चिन्तन शुभ भी हो, पर पाप कर्म का संबंध अंश रूप में जुड़ता है क्योंकि आरंभ छूटा नहीं है और आरंभ जनित अवस्था से जो क्रिया होती है उस क्रिया से कर्म-बंध निश्चित है।

साधु को जाने दीजिये, जो सर्वज्ञ हैं, उनके शरीर से जो क्रिया होती है, उससे भी कर्म-बंध की अवस्था उपस्थित होती है। ये बात अलग है कि उनके कषाय नहीं होते, इसलिए बंधने वाले कर्म आत्मा के साथ ज्यादा समय तक जुड़े नहीं रह पाते। यदि कषाय है, राग-द्वेष है, तो वे कर्म आत्मा के साथ लोलीभूत होते हैं, चिपक जाते हैं। यदि राग-द्वेष-कषाय नहीं है तो इधर कर्म लगे आत्मा में और उधर से हवा का झोंका चला कि वे निकल जाएंगे। एक उदाहरण से इसे समझिये।

एक दीवार है, जिस पर तत्काल लिपाई की गई है या वार्निश लगाया गया है। अब आँधी-तूफान चले तो रेत उड़-उड़कर वार्निश-रोगन, जो पूरा सूखा नहीं है, उस पर चिपक जाएगी। दूसरी एक दीवार, जिस पर बहुत पहले रंग-रोगन किया गया था, जिस पर कोई चिकना-लेप नहीं है, आंधी-तूफान आये, धूल उड़कर दीवार पर गिरे, लग भी जाये तो वापस हवा का झोंका आने पर उड़ भी जायेगी। आयी और हट गई।

दीवार दोनों एक समान हैं, किन्तु लेप का अंतर है। हमारी आत्मा और सर्वज्ञ की आत्मा, आत्मरूप से एक हैं, पर उनकी आत्मा पर रंग-रोगन का लेप नहीं है और हमारी आत्मा पर हम निरन्तर रंग-रोगन कर रहे हैं। कोई समय ऐसा नहीं जाता है, जिस समय कषाय न हो। आप कहेंगे यहाँ तो व्याख्यान सुन रहे हैं, कहाँ कषाय है ? पूरा नहीं है, पर सूक्ष्म रूप से चलता रहता हैं। हम अनुभव कर नहीं पाते हैं, किन्तु है, मौजूद है। चौकीदार कभी खड़ा रहता है, कभी अपनी केबिन में चला जाता है, पर इतने मात्र से, "वह नहीं है" नहीं कह सकते। वैसे ही ये कषाय हर समय मौजूद रहते हैं। कभी क्रोध, कभी मान, कभी माया और कभी लोभ। उनमें भी चिकनापन होता है। यदि गाढ़े कषाय उदय में है तो लेप चिकना होगा। यदि कषाय पतले होते हैं तो लेप भी पतला होगा। जितना गाढ़ा होगा, रेत उतनी ज्यादा चिपकेगी और जितना पतला होगा उतनी कम। जैसे हम रेत को कपड़े से छान लेते हैं। गाड़ी में आप जो ग्रीस डालते हैं वह गाढ़ा होता है, उसमें गिरे बालू को कोई कपड़े से छानना चाहें तो छनेगा ? और पेट्रोल में बालू गिर जावे तो छान सकते हैं। पतले लेप को छान सकते हैं, गाढ़े को नहीं। वैसे ही हमारे अंदर गहरा कषाय रौद्र भाव, वैरानुबंधी वैर की भावना चल रही हो तो आने वाले कर्म भी गाढ़े रूप से चिपक जाते हैं। किन्तु सर्वज्ञ-सर्वदर्शी भगवान जिनके लेप नहीं है, लेप न होने से शरीर की हलन-चलन क्रिया से कार्मण-वर्गणा निकट तो आती है, आत्मा पर चिपकती भी है, प्रभाव भी होता है किन्तु दूसरे ही क्षण वह अलग हो जाती है। पहले समय में बंध, दूसरे में वेदन, तीसरे समय में निर्जरा से समाप्त। अधिक समय तक आत्मा को उद्वेलित नहीं करते।

बंधुओं ! मैं आपको बतला रहा था कि बहिन ने व्याख्यान में सुना। बहिन का चिन्तन चल पड़ा कि महाराज ने बात कही है- आरंभ से बंध होता है। अब मुझे आरंभ में नहीं पड़ना है। घर पहुँची, दूकान से सेठजी आये, रसोई में गये। रसोई बनी नहीं थी। पूछा- "क्या बात है ? भोजन नहीं बनाया।" उसने कहा- "मैं नहीं बनाने वाली। मैं चौके में बैठकर आरंभ नहीं करूँगी। मैंने आज ही सुना है उससे कर्म बंध होता है। मैं क्यों कर्म बंध करूँ ? मैं नहीं करती।" उसका कहना क्या ठीक है ? विचार कीजिये। घर वाले यदि कह भी दें कि इतना कर्मबंध का डर

है तो दीक्षा ले लो। तब वह कहे "दीक्षा तो नहीं लूंगी और आरंभ भी नहीं करूंगी।" ऐसी अवस्था में शांति नहीं मिल पाएगी। वह चौका-चूल्हा आरंभ न करें तो घर में शांति रहेगी या अशांति का वातावरण हो जाएगा ? आप स्वयं जान लो, क्या होगा ?

मैं आपकी मानसिकता बताऊँ। भले ही कोई दीक्षा लेने वाला हो, आप कह देंगे घर पर रहकर ही धर्म-ध्यान कर लो। दीक्षा लेने से ही क्या है ? घर रहकर ही आरंभ-समारंभ में मत लगना। धर्म-ध्यान कर लेना। तो ऐसे क्या हो जायेगा धर्म-ध्यान ? मिल जायेगी शांति ?

हुलासमलजी म.सा. ने 60 वर्ष की उम्र के बाद दीक्षा ली। वे 20 वर्ष तक पौषधशाला में रहे। भोजन घर से आता था, वहीं बैठकर भोजन कर लेते थे। घर नहीं जाते थे। पर वे ही दीक्षा लेने के बाद कहने लगे- "अब जितना हल्कापन महसूस हो रहा है, उतना 20 वर्षों तक पौषध शाला में नहीं मिला। हालांकि मैं व्यापार-धंधा या अन्य कार्य नहीं करता था फिर भी कोई भोजन पहुँचाने वाला आता तो स्वाभाविक है व्यक्ति जिसमें रमा होता है, उसी से संबंधित बातें मुँह पर आती हैं। टंकी में जो पानी रहता है वही तो नल से आता है। वे कहते हैं- जब बातें सामने आती तो दिमाग में थोड़ा प्रभाव तो हो ही जाता था किन्तु साधु बनने के बाद.... कुछ नहीं होता, ऐसी बात नहीं है। साधुता में रम जाये तो नहीं होगा, पर न रमे तो वहीं पर भी होगा, कपड़ा परिवर्तन भले हो गया, पर साधुता नहीं आयी तो फिर घर के हाल-चाल कैसे हैं ? लोगों की तबियत कैसी है ? यही तो पूछेगा। इन कार्यों का साधु के लिए निषेध है क्योंकि इनमें रमता रहेगा तो साधना क्या कर पाएगा। उन्हीं में रमेगा तो आर्त्तध्यान बनेगा, शांति आ नहीं पाएगी। कपड़ा बदलने या व्याख्यान सुनने से शांति का संबंध नहीं है।

वह बहिन बहुत कर लेगी तो भले एक-दो दिन घर का काम न करे। घर वाले मौन साध लेंगे, पर कितने दिन ? फिर वे आड़े-टेढ़े शब्द सुनाने लगेंगे, जो कलेजे को बींधकर छलनी बना देंगे। कलेजा छलनी बन गया तो वहां शांति का अनुभव कैसे होगा ? शांति छन-छन कर बाहर चली जावेगी और अशांति का दौर प्रारंभ हो जावेगा। संतों के यहाँ शांति मिल सकती है बशर्ते दिल को जोड़ने का प्रयत्न करें। यदि नहीं जोड़ा, तो फिर संतों के पास क्या तीर्थंकरों के पास भी चले जायें, शांति नहीं मिलेगी।

कहते हैं श्रेणिक ने कारण पूछे नरक टालने के तो कहा- तुम्हारी दासी दान दे दे। उन्होंने कहा- "इसमें क्या बात है, दासी मेरी है।" संत पधारे। श्रेणिक ने कहा- "बहराओ।" उसने कहा- "मैं नहीं बहराती।" आज्ञा हुई- "मेरा आदेश है।" नौकरों से कहा- "बांध दो, हाथ में चाटु उनसे दिलवा दो।" दान दिलवाया गया तो दासी ने कहा- "दान मैं नहीं दे रही हूँ ! "कौन दे रहा है ?" "दासी नहीं, राजा का चाटु।" अब विचार कीजिये कि संतों का नैकट्य तो मिला पर क्या प्रीति बनी?

संगम देव, भगवान महावीर के पास एक-दो घंटे नहीं रहा, रातभर रहा और एक रात में 20 उपसर्ग दिये। इतने समय साथ रहकर भी क्या किया ? इसीलिए कवि ने कविता में कहा- शांति का स्वरूप कैसे जानें ? तो उत्तर मिला- मन की परीक्षा करो। अंतर को टटोलो। वहीं शांति का स्वरूप पल्लवित होता है। किन्तु फिर यह प्रश्न आ गया कि मन की परीक्षा कैसे करें ? मन की दशा भी विचित्र है। हमें लगता है कि बड़ा शांत है, पर शांत रहकर भी भीतर अशांति के विच्छू पैदा कर देता है। इसलिए मन की परीक्षा कठिन है। मन को प्रेरित-प्रशिक्षित करना पड़ता है। यह कार्य संतों के सहयोग से ही संभव है। इसलिये संतों के पास आने की आवश्यकता पड़ती है। पर ध्यान रखना आप में जो संस्कार हैं, आपके पूर्वज नहीं लाते तो आप भी संतों के द्वार पर नहीं आ पाते और आज भी ऐसे व्यक्ति जो जैन भी हैं, स्थानकवासी भी है, परन्तु शायद संवत्सरी पर ही लालभवन का मुँह देखते हैं। कई भाई कहते हैं- इतने वर्षों में पहली बार आये हैं। क्या कारण है ? कारण है प्रारंभ से संस्कार नहीं मिले।

हम संस्कारों की बात करते हैं लेकिन कई भाई ऐसे भी हैं जिन्हें 'णमो अरिहंताणं' भी शुद्ध नहीं आता; पूछ लें तो जवाब नहीं दे पाते। इसलिए ऐसी दुविधा में नहीं पड़ते। आ जाते हैं तो दूर से नमस्कार कर रवाना हो जाते हैं। यह कार्य संतों का तो है, पर संतों के साथ अभिभावकों का भी है। वे बच्चों को सद्संस्कार देने का प्रयत्न करें। समय हो तो संतों के पास भेजें ताकि वे कुछ सीख सकें। एक-दो बार प्रोत्साहन दिया तो वे स्वयं आने को उत्सुक रहेंगे। संतों के पास बहुत अच्छी बातें मिलेंगी तो वे फूले नहीं समाएंगे ?

मैं आपको शास्त्रों की बात सुनाता हूँ। पहले बच्चे दर्शन करके आते तो माताएँ कहतीं- "दर्शन किये, आँखें पवित्र हो गईं।" बच्चे को

लगता अच्छा कार्य किया है। "वाणी सुनी है।" माँ कहती- "कान पवित्र हुए।" एवंताकुमार जब गणधर गौतम को घर लाये तो महारानी श्रीदेवी ने कहा- "ओहो ! तुम तो तिरण तारण की जहाज लाये हो।" कितना हौंसला बढ़ा होगा बच्चे का !! वे तो दीक्षित हो गये। यदि नहीं होते, दूसरी बार साधु को देखते तो लाये बिना नहीं छोड़ते। आज आपके बच्चों में क्या संस्कार हैं ? महाराज को देख लें तो वंदन-नमस्कार तो दूर, घर में भाग जाएंगे- "मम्मी-मम्मी, महाराज आये हैं।" धीरे-धीरे बोलेंगे। उन्हें डर लगता है। संत को वंदन-नमस्कार कर नहीं पाते क्योंकि संस्कार नहीं हैं। यदि आप चाहते हैं कि उनमें संस्कार बनें तो समय पर, छुट्टियों के प्रसंग पर संस्कारों के लिए शिविर का आयोजन हो सकता है। सुना है दीपावली के समय भी छुट्टियां होती हैं, चिन्तन कर सकते हैं कि संस्कार मिलेंगे। विनय गुणों का प्रवेश हो इसके लिए शुद्ध आचरण हो। यहाँ बैठने वालों में एक प्रतिशत भी शुद्ध उच्चारण कर लें तो समझेंगे बहुत अच्छी बात है। क्या उच्चारण करते हैं- "तिक्खुत्तो....देवियं-चेवय पज्जुवासामि" और "मत्थेण वंदामि"। "मत्थेण" नहीं "मत्थएण वंदामि"। जितना शॉर्ट हो सके अच्छा है। संक्षिप्त चाहते हैं। यह तो मैंने एक बतायी पर ये एक ही गलती नहीं होती है और भी त्रुटियाँ उच्चारण की है, जिन्हें भी सही करानी चाहिये। पर सही करने में प्रारम्भ से जो लय चली है वो टूटती है, ऐसे में आपको मजा नहीं आएगा। कहीं दीर्घ का ह्रस्व और कहीं ह्रस्व का दीर्घ कर लेंगे। नवकार मंत्र, गुरु वंदन आदि का उच्चारण शुद्ध बने इसके लिए नींव को संस्कारित करने का प्रयत्न करें। शांति का वातावरण भी बनेगा। हम आप सभी तो यही चाहते हैं कि अशांतिकारक स्थितियाँ समाप्त हों और अंतर्मन तक शांति का प्रवाह बहे। तो रेत को पेलकर तेल निकालने जैसे निरर्थक प्रयास बंद कीजिये और प्रभु शांतिनाथ से विनंती कीजिये-

शांति जिन एक मुझ विनती.....।

*08.10.2000*

❖ ❖ ❖

# 12. कैसे जगे जिज्ञासा भाव

अत्यन्त व्यस्तताओं में घिरा व्यक्ति समय निकाल पाने में असमर्थ होता है। जिस कार्य में रचा-पचा है उसके लिए तो पूरा समय उसके पास मौजूद रहता है, पर अन्य कार्यों के लिए वह समय नहीं निकाल पाता हैं। यह उचित नहीं है। होना तो यह चाहिये कि वह जिनमें रचा-पचा है उसमें शांति नहीं मिली तो शांति को जानने के लिए समय निकाले। जो आत्माएँ शांति के लिए जिज्ञासु बनती है, उनके लिए कवि इस कविता के माध्यम से कह रहे हैं-

**धन्य, तूं आत्म जेहने....।**

तुम्हारी आत्मा को धन्य है, जो तुम्हारे मन में यह जिज्ञासा भाव जागृत हुआ है। अलबत्ता अधिकतर व्यक्तियों के मन में कोई जिज्ञासा भाव ही प्रकट नहीं होता। वे अपने तनावों और घरेलू व्यस्तताओं से ही इतने घिरे रहते हैं कि शांति क्या है, उसका स्वरूप क्या है, यह जानने की तमन्ना भी उनमें उत्पन्न नहीं हो पाती।

शांतक्रांति के अग्रदूत गणेशाचार्य विराजे हुए थे। कई श्रावक भी बैठे हुए थे। रात्रि का समय था, आचार्यश्री ने कहा- कुछ पूछना हो तो पूछ लो, कुछ ज्ञानचर्चा करनी हो तो कर लो। उपस्थित श्रावक बोले- "अन्नदाता ! कुछ आवे ही नहीं, कांइ पूछां।" एक-दो मिनट आचार्यश्री ने इंतजार किया, फिर कहा- "और कुछ नहीं जानते तो यह तो पूछ सकते हो कि साधु क्यों बन गये ? पर ये भी उपजे, अंतर में पैदा हो, तब पूछ पाये।

हकीकत में हमारा एक रूटीन बन गया है, उसी से हमारी गतियाँ यंत्रवत संचालित होती हैं। व्याख्यान में आना होता है इसलिए आते हैं, किन्तु तत्त्व-ग्रहण की अभिलाषा से कितने आते होंगे ? बहुत से लोग

रूटीन स ही चले आते हैं कि महाराज का चातुर्मास है, चलो चल आते हैं। उनसे पूछ लें कि व्याख्यान में क्या बात आई ? तो चुप्पी साध लेते हैं। प्रयोग के रूप में व्याख्यान के पश्चात् कुछ प्रश्न भी सामने आते हैं। यह जरूरी नहीं है कि उत्तर न दे सकें, जो सुना ही न हो। किन्तु सुनने के साथ उस विषय में अवगाहन नहीं होता।

हृदयंगम कितना करते हैं, उन्हें स्वयं को पता नहीं। उसे कितना समझ पाये यह भी ज्ञान नहीं। यह तो जयपुर की नगरी है, मेरे ख्याल से वहुत से व्यक्ति जानते होंगे कि साधु के महाव्रत कितने होते हैं और श्रावक के अणुव्रत कितने होते हैं ? आप लोगों ने साधु के पाँच और श्रावक के बारह बता दिये। परन्तु आप बहुत जल्दी में बोले हैं। श्रावक के भी अणुव्रत 5 होते हैं। व्रत 12 होते हैं किन्तु - पंचाणुव्वयाइं, सत्तसिक्खावयाइं....। 5 अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत, ये 12 व्रत हैं और साधु के महाव्रत 5 हैं। वैसे हम जानते हैं कि साधु के 5 महाव्रत होते हैं, किन्तु 5 नहीं 6 होते हैं। छठा- रात्रिभोजन भी तीन करण-तीन योग से पालन करने की स्थिति वनती है। किन्तु श्रावकों में महाव्रत न होने से, उसे व्रत की संज्ञा दी गई है। ऐसा ज्ञान पृच्छा से होता है। बिना पृच्छा श्रुतज्ञान भी परिपक्व नहीं हो पाता।

पूज्य गणेशाचार्यजी ने कहा- और कुछ भी न पूछ सको तो इतना ही पूछ लो, तो लाइन चालू हो जायेगी, वात प्रारंभ हो जायेगी और उसी के आधार पर साधु के महाव्रतों का बोध हो सकेगा। कई कहते हैं कि हमें कुछ आता नहीं। अरे भाई ! आता नहीं, तभी तो पूछना है और आता है, तो भी पूछना है। ताकि पक्का-विश्वास हो जाये कि जो हमें आ रहा है और महाराज जो कह रहे हैं, उसमें कोई अंतर नहीं है। पक्की धारणा हो जाएगी। फिर दूसरे के सामने प्रस्तुत करने में दृढ़ता आ जाएगी। इसलिए कवि आनन्दघनजी कहते हैं- धन्य है कि तुम्हारी आत्मा में ये जिज्ञासा प्रकट हुई। नहीं तो कहाँ जिज्ञासा होती है और आज के युग में, हालांकि व्यक्ति कुछ भी नहीं जानता है, पर भाव ऐसे वनाकर चलता है जैसे सबकुछ जान रहा है। ऐसी स्थिति में जानना बाकी क्या रह गया ? परन्तु विचार कीजिये कि अभी समुद्र की अथाह जलराशि में से हमने कितना ग्रहण किया है ? ज्ञान के रूप में एक बूंद भी नहीं। विश्व के

अनंतानंत पदार्थों में से अब तक हमारी आत्मा ने सारे पदार्थों को ग्रहण करके परिणमन कर लिया होगा, किन्तु ज्ञान के क्षेत्र में जो कि उसके भीतर रहा है, उसमें से अब तक एक बूंद भी प्राप्त नहीं कर पाया है। यदि एक बूंद भी प्राप्त हो जाती तो उस नमूने से पूरे समुद्र के पानी की थाह प्राप्त कर लेते, पर नमूना भी सही नहीं है। आज किताबों का ज्ञान हम जरूर हासिल कर लेते हैं, पर आत्मीय बोध कितना हो पाया है उस ओर हमारा लक्ष्य कितना बना है, संसार के प्रति कितनी उदासीनता आई है इसका कोई ज्ञान ही हमें नहीं होता और न इसके प्रति अज्ञान का भान ही होता है। आत्म-बोध के लिए आवश्यक है कि सांसारिक विषयों से उदासीनता हो। यदि उदासीन नहीं है, रात-दिन उसे बढ़ाने में आसक्ति लगी है तो समझना चाहिये कि हम आत्म-बोध से दूर हैं। इसीलिए कवि ने कह दिया- धन्य है जो तुम्हारे मन में ऐसी जिज्ञासा तो उद्भूत हुई।

**धीरज मन धर सांभलो।**

धैर्य धारण करो। धैर्य से सुनने का प्रयत्न करो। तुम्हें शांति का स्वरूप वतलाया जाता है। ये तो केवल भूमिका है और जो शांति का स्वरूप बताया है उसमें बहुत मर्म की बात आती है-

**भाव अविशुद्ध सुविशुद्ध जे,**

**कह्या जिनवर देव रे........।**

भाई ! बाहरी अवस्था पर ही सारा ध्यान केन्द्रित मत करना। बाहर की अवस्थाओं पर ध्यान केन्द्रित करने वाला, ठगा जा सकता है। वंचना उसके साथ हो सकती है, इसलिए अंतरंग अवस्था देख।

भाव अविशुद्ध-सुविशुद्ध जो कहे गये हैं वे कौन से भाव हैं ? कैसे भाव हैं ? ये बातें हमारे सामने आएंगी। ये हमारे लिए बड़ी कठिनाई हो जायेगी। आपसे पूछ लें, भाव कितने होते हैं ? बाजार के बताने हों तो बात अलग है अन्यथा बताना कठिन हो जाएगा। मैं उलझन में डालना नहीं चाहता। भाव 5 बताये गये हैं- औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक। याद रहेंगे ? अभी नाम पूरे हृदयंगम नहीं हुए होंगे। सुने जरूर हैं पर मस्तिष्क भावों को पूरा ग्रहण नहीं कर पाया होगा। अतः

किंचित विस्तार से सुनिये। **औदयिक**- कर्म के उदय से जो प्रक्रिया बने, वह औदयिक भाव है। **औपशमिक**- जिसमें मोह कर्म की उपशमना बन जाये। कर्म मौजूद है, किन्तु ऊपर में उदय भाव में नहीं आवे, उसे औपशमिक कहा है। जैसे- मान लो पानी में कचरा तो है, पर फिटकरी फेरे जाने के परिणामस्वरूप जमा हुआ है। नीचे है, पर घुला हुआ नहीं है। *आत्मा की वह अवस्था औपशमिक भाव है।* **क्षायोपशमिक**- भाव वह है जिसमें थोड़ा-थोड़ा कचरा आ रहा है, किन्तु फिल्टर भी हो रहा है। **क्षायिक**- भाव वह है जो पूरा फिल्टर हो चुका है और औदयिक वह जिसमें खूब सारा कचरा भरा है। जैसे- ट्यूबवेल की खुदाई करें तो गंदा पानी निकलता है। फिर उसे फिल्टर किया जाये और वह पूरा साफ हो जाये। जहाँ पानी का शुद्ध स्वरूप प्रकट हो चुका है, जैसे गरम करने पर वाष्प बनती है, जिसे डिस्टिल्ड वाटर कहते हैं उसमें कचरा होता ही नहीं, ये **पारिणामिक** भाव है। ये एकदेशीय उदाहरण है, पर पानी को ही भाव मत समझ लेना। इस रूप में आत्मा की जो अवस्था बनती है, वे भाव कहे गये हैं। भगवान महावीर का आप उदाहरण लें। प्रभु महावीर यौवन-वय प्राप्त हैं, पर जीवन में शांत रस का संचार है। विषय-विकार के प्रति किंचित् भी रुझान नहीं है। उठने-बैठने में कहीं पर भी विकार की झलक नहीं आती है। व्यक्ति के भीतर की झलक, अंतर के हाव-भाव छिपे नहीं रहते। व्यक्ति की चाल से, कैसे वह चल रहा है इससे प्रकट हो जाते हैं। यदि वैकारिक भाव अंगड़ाई ले रहे होंगे तो चलने की गति परिवर्तित हो जाएगी। चलने की गति तो जाने दीजिये, श्वांस की गति का अनुभव करिये। तब श्वांस की गति में भी बदलाव आ जाएगा। श्वांस की गति भी अंतर का काँटा है। जैसे- घड़ी में काँटा होता है, उससे समय जान लिया जाता है, वैसे ही अंतर की मशीन का ये श्वांसोच्छ्वास काँटा है। उससे हम अंतर के विचारों या भावों का अनुमान कर सकते हैं। यह ज्ञात हो जाता है कि आप सामायिक में है मतलब समाधि भाव में हैं, कषाय की उत्तेजना नहीं हो रही है। तो वैसे समय में श्वांस की गति बहुत शांत अवस्था में चलेगी। उसमें तीव्रता नहीं आएगी। इसलिए व्यक्ति की चाल-ढाल, उठने-बैठने की मुद्राएँ जैसी सारी क्रियाएँ उसके अंतर का प्रतिबिंब छोड़ जाती है। जैसे- दर्पण पर प्रतिबिंब सामने जाते ही आता

है, वैसे ही व्यक्ति अपना प्रतिबिंब आचार-विचार, व्यवहार आदि से प्रस्तुत कर देता है।

आचार्यश्री श्रीलालजी म.सा. से जब साधु के बारे में पूछा गया तो उन्होंने कहा-

**ईर्या-भाषा एषणा, ओलख ज़ो आचार....।**

साधु कौन है ? लंबी-चौड़ी शास्त्र की बातों से नहीं जान पाओगे। साधु के ऊपरी काँटे हैं, ये उसके व्यवहार का दिग्दर्शन कराने वाले हैं। ईर्या अर्थात् चाल। भाषा अर्थात् बोलने का लहजा। यह भी व्यक्ति का चरित्र प्रकट कर देता है। ऐसे-ऐसे ज्योतिषी हुए हैं, जिनके सामने आप केवल एक मिनट बोल लीजिये वे बता देंगे कि आपका जन्म कब हुआ है ? आपकी पूरी जन्म कुंडली ही बना देंगे केवल एक मिनिट बोलने पर। यह तो आगे की बात है, केवल फेस रीडिंग से ही जन्म कुण्डली बना दें ऐसे ज्योतषी भी हुए हैं। जब ज्योतिषी कुंडली बना सकता है तब क्या व्यक्ति आपके आचार-विचार से पता नहीं लगा सकता ? शास्त्रों में यहाँ तक बता दिया गया है कि कोई संस्कृत-व्याकरण कोष का ज्ञान न भी प्राप्त कर सके तो ये न सोचे कि मैं क्या करूंगा। ज्ञान ही महत्त्वपूर्ण नहीं है। ज्ञान के साथ क्रिया भी होनी चाहिये। किसी ने भले विशेष ज्ञान उपार्जित नहीं किया हो, किन्तु यदि वह पाँच समिति-तीन गुप्ति का सही तरीके से आराधन कर रहा है तो वे लोग जिन्होंने सारे शास्त्र पढ़ लिये हैं भले मुक्ति में जाये न जायें, किन्तु जिसने पांच समिति-तीन गुप्ति की सम्यक् आराधना कर ली है उसकी मुक्ति निश्चित है। वह संसार से तीर जाएगा। एक व्यक्ति ने ज्ञान बहुत प्राप्त किया है, किन्तु वह प्रेक्टिकल अनुभव प्राप्त नहीं कर करता है, ज्ञान बहुत प्राप्त किया किन्तु आचरण में पैर नहीं रखा, तो वह ज्ञान किस काम का ? उसकी उपयोगिता क्या ? इसलिए कहा है- ईर्या, भाषा, एषणा देख लीजिये। देख लीजिये कि पुद्गल के प्रति लगाव कितना है ? उसकी चलने-बोलने की प्रक्रिया देखिये, उसके जीवन का नक्शा सामने आ जायेगा। भगवान महावीर का जीवन इसका प्रमाण है। 22 तीर्थंकरों के समय कहा गया था कि मन आवे जैसा पहनो, पर भगवान महावीर ने

मना कर दिया क्योंकि वे जानते थे कि वस्त्रों के चयन का भी मनोविज्ञान होता है। वस्त्र कैसे हैं ? उनका रंग कैसा है ? इसका भी प्रभाव पड़ता है। विज्ञान ये सिद्ध कर रहा है। मैं एक उदाहरण दे रहा हूँ।

एक स्कूल के लड़के बड़े उद्दण्ड थे। प्रिंसिपल परेशान हो गया। उन्होंने काफी प्रयत्न किया पर उद्दण्डता कम नहीं हुई। एक मनोवैज्ञानिक को बुलाया। उसने निरीक्षण किया और कहा कि मूल में ही कुछ भूल रही हुई है। आप जानते हैं कि आज भी लोग भाग्य परीक्षण करवाते हैं, कुण्डलियां दिखाते हैं, ज्योतिषी की सलाह लेते और उपचार करते हैं। वास्तुशास्त्र का नया आयाम इस परीक्षण में और जुड़ गया है। लोग वास्तुशास्त्री से पूछते हैं कि हमारा काम चलता है, माल भी बहुत है, पर तलपट में कुछ बचता नहीं। खर्चा निकालने के वाद बचता कुछ नहीं। वास्तुशास्त्री घर का निरीक्षण करता है और वताता है कि दरवाजा कहाँ हो, रसोई कहाँ हो आदि। घर में स्थित रसोईघर, बैठक, पूजाघर, जलकुण्ड आदि की दिशाओं का भी प्रभाव पड़ता है। पहले के कारीगरों को मकान बनाते समय इन सबका ध्यान रहता था। बीच में वास्तुचिन्तन से ध्यान हट गया। आज फिर इस विज्ञान को महत्त्व दिया जाने लगा है। इसी संदर्भ में स्कूल के प्रिंसीपल ने मनोवैज्ञानिक से पूछा और उसने निरीक्षण करके कहा कि मूल में ही भूल है। प्रत्येक कमरे को गहरे लाल रंग से रंगा गया है तो उद्दण्डता तो फैलेगी ही। लाल रंग उत्तेजना का प्रतीक है। लाल रंग के प्रभाव स्वरूप उत्तेजना आती ही है। शादी होती है तो कैसा रंग पहनाते हैं ? वहू की साड़ी कैसी होती है ? आप कहेंगे- लाल। आज भले ही कुछ भी हो, पर परम्परा और संस्कारों की दृष्टि से ऊपर लाल साड़ी ही ओढ़ाते हैं ताकि भीतर उत्साह और उत्तेजना पैदा हो। हालांकि लोगों को यह जानकारी नहीं है, वे तो परम्परा का पालन कर रहे हैं, परन्तु इसके पीछे मनोवैज्ञानिक आधार रहा है। उस मनोवैज्ञानिक ने कहा- "पूरी स्कूल लाल है और फर्नीचर भी लाल रंग है तो लाल रंग का मनोवैज्ञानिक प्रभाव तो पड़ता ही है और छात्र उत्तेजित हो जाते हैं। यही कारण है कि उद्दण्डता कम नहीं होती है। आप पूरी स्कूल ग्रीन कलर में करवाकर देखिये।" मनोवैज्ञानिक की सलाह के अनुसार सारे कमरे, फर्नीचर आदि ग्रीन करवा दिये गये। कुछ ही महीनों में परिणाम

भी आ गया, उद्दण्डता शांत हो गई थी। आप देखिये कि कैसे स्थितियाँ बदलती हैं।

धर्मस्थान में कौनसा रंग होना चाहिये ? धर्मस्थानों में भी आजकल सजावट चालू हो गई है। जयपुर में तो नहीं है, पर कई जगह धर्मस्थानों को भी दर्शनीय स्थल बनाया जा रहा है। तब विचार होता है कि लोग देखने के लिए आते हैं या वहाँ साधना के लिए ? ये पर्दे, लिखी हुई सूक्तियां आदि चित्त को चंचल करते हैं। आने वालों का ध्यान बंटता है। आने वाला व्याख्यान सुनेगा या सूक्तियां नोट करने में लगेगा। इस प्रकार ध्यान बंटता है और एकाग्रता भंग होती है। ऐसी स्थिति में मन साधना में रम नहीं पाता है। इसलिए ध्यान साधना के लिए क्षेत्र की स्थिति भी महत्त्वपूर्ण मानी जाती है।

वंधुओं ! बातें कहाँ से कहाँ चली जाती हैं, किन्तु कहने का आशय यह बताना है कि पुद्‌गलों का भी प्रभाव पड़ता है। मैं बतला रहा था कि हम भारतीय संस्कृति को भूल रहे हैं। यदि कोई धोती-कुर्ता-कमीज पहनकर माता-पिता के सामने आता है तो उनके प्रति झुकता है, परन्तु यदि पेंट, सूट-कोट-बूट पहने तो गर्दन ऊँची रहेगी, अहं का भाव रहेगा। इसका भी प्रभाव पड़ता है, विनय का भाव समाप्त हो जाता है। आप स्वयं भी यह अनुभव करते होंगे। वे माता-पिता सौभाग्यशाली हैं, जिनके पुत्र और परिवार के सदस्य उनके कहे अनुसार चलते हैं नहीं तो माता-पिता संतान को जन्म देने के बाद कभी अकेले में बैठें तो हृदय कितना दुःख पाता है, भगवान् ही बता सकता है या उन्हीं से पूछ सकते हो। ऐसी स्थिति में वे शांति के प्रति जिज्ञासाशील कैसे बनें ? अशांत क्षणों में व्यक्ति का सही दिशा में सोच हो पाना कठिन रहता है, पर जो लोग चिन्तनशील होते हैं वे ही अपने चित्त को चिंतन में लगा पाते हैं। जब चित्त चिन्तन में बहता है तो उसमें जिज्ञासा के भाव भी जागृत होते हैं।

आचार्यश्री गणेशीलालजी म.सा. का पृच्छा के लिए संकेत इसी भावना का पूरक है। हमारी अन्तर चेतना भी जिज्ञासु बने उसमें भाव उद्‌भूत हों कि मैं कौन हूँ ? कहाँ से आया हूँ ? मैं अशान्त क्यों हूँ ? इस अशांति का मूल कहाँ है ? इस प्रकार जिज्ञासा भाव जागृत होने पर

एक के पीछे एक जिज्ञासा पैदा होती रहेगी और व्यक्ति अपने ज्ञानकोष को प्राप्त समाधानों से विस्तार देता रहेगा। इसी संदर्भ उसकी चेतना भी शोधार्थी बनकर स्वयं खोजी बन सकती है और अतल गहराईयों से अनमोल रत्न निकालकर स्वयं को लाभान्वित कर सकती है इसलिए आवश्यकता है हमारे भीतर जिज्ञासा भाव जागृत हों। हम चिन्तनशील बनें। भावों की महिमा को जानें, उनके प्रभाव को ध्यान में रखें और जब औदयिक का उदय हो तो धैर्य से काम लें।

09.10.2000

# 13. जीवन-परिष्कार की विधि

प्रत्येक व्यक्ति भावना यह रखता है कि उसका कल्याण हो। पर भावना रखने मात्र से तो कल्याण हो नहीं जाता। कल्याण चाहने वाले को शांति के सोपानों का बोध भी प्राप्त करना होता है। मंजिल पर चढ़ने वाला यदि उनके प्रति सतर्क न रहे, सोपानों को ध्यान में न लें तो मंजिल पर चढ़ पाना दुरूह हो सकता है और उसके सामने एक संकट की स्थिति बन सकती है।

सोपान अर्थात् सीढ़ियाँ नीचे से ऊपर पहुँचने की इच्छा रखने वाला व्यक्ति यदि सीढ़ियों का ध्यान न रखे तो चोट खा सकता है, गिर सकता है और हो सकता है कि मंजिल तक पहुँच ही न पाये। परन्तु जो व्यक्ति सीढ़ियों का व्यवस्थित ज्ञान प्राप्त कर लेता है और उनकी व्यवस्थाओं को जान लेता है, वह चढ़ता हुआ अपनी मंजिल तक पहुँच सकता है। यहाँ मंजिल पर चढ़ने के लिए सीढ़ियाँ समान स्तर की मिल सकती हैं, पर कई घरों में आपने अनुभव किया होगा कि सीढ़ियाँ छोटे-बड़े और ऊँचे-नीचे या घुमावदार भी होती हैं। व्यक्ति यदि सावधानी न रखे तो उसके मोच आ सकती है या चोट लग सकती है। इसलिए चढ़ने वाले को सीढ़ियों की व्यवस्था का ज्ञान होना चाहिये। जब कल्याण हमारी मंजिल है तब तो सीढ़ियों अथवा सोपानों से संबंधित पूरी जानकारी होनी ही चाहिये। कवि आनन्दघनजी यही जानकारी देते हुए कह रहे हैं-

**भाव अविशुद्ध सुविशुद्ध जे.....।**

यह पहला पगतिया है, कौन-सा भाव शुद्ध है, कौनसा मिश्र है और कौनसा अशुद्ध है, इसे यथार्थ रूप में जानना है।

बातें जरा कठिनाई की लगेंगी। ये भाव कौन-सी बला आ गई ? यहाँ तो महत्वपूर्ण वस्तु है। हमारे अंतर में जो विचार या अध्यवसाय बनते

हैं, उन विचारों-अध्यवसायों में इन भावों का महत्त्वपूर्ण स्थान रहता है। हमारी साधना में भी इन भावों की महत्ता रहती है। एक व्यक्ति मासखमण-मासखमण की तपस्या करता है। पारणे में कुश मात्र अन्न या कुशाग्र ग्रहण करता है। उसके बाद भी वह कल्याणकारी अवस्था प्राप्त नहीं कर पाता और सोचता है कि कुछ भी हो, मैं मंजिल प्राप्त कर लूंगा। घर की मंजिल पर भले कोई छलांग लगाकर पहुँच जाये, किन्तु भाव मंजिल प्राप्त करने के लिए चाहे कितनी ही उठा-पटक कर ले, वह उठा-पटक मंजिल तय नहीं करवा पाएगी।

एक व्यक्ति अपने मन में ही मस्त रहता है, दुनिया में क्या हो रहा है, इससे उसे कोई मतलब नहीं। दूसरे का कुछ भी हो इससे भी उसे मतलब नहीं। यह बड़ा कठिन काम है, क्योंकि मोह कर्म बलवान है। उनका घेरा लगा हुआ है, औदयिक भाव की अवस्था है। औदयिक भाव से अनुरंजित अध्यवसाय रहते हैं तो हम स्वयं आपाधापी तक केन्द्रित हो जाते हैं, किन्तु आत्म-कल्याण इससे नहीं होता। इसलिए इन भावों को ज्ञात करना होता है। औदयिक, कर्म के उदय से बनता है। संसार के विविध प्राणियों की अलग-अलग गतियाँ हैं- मनुष्य, तिर्यंच, नरक और देव। जितनी भी आत्माएँ हैं उनमें औदयिक भाव का स्वरूप रहा हुआ है। औदयिक भाव तो आगे भी रहने वाला है, किन्तु देखना यह होता है कि उसमें तीव्रता कितनी है, और मंदता कितनी है। बुखार होता है- कभी 98.6 डिग्री, पर उसे बुखार नहीं मानते हैं। बुखार किसे कहते हैं ? साढ़े अट्ठानवे डिग्री से पारा ऊपर चला जाता है अर्थात् 99 डिग्री, 100 डिग्री, 101 डिग्री, 102 डिग्री, 103 डिग्री तक पारा पहुँच जाता है, तब। यूँ तो गर्मी की लू से भी पानी का तापमान चढ़ जाता है, पर वह बुखार की बात नहीं है। व्यक्ति के मुँह से या बगल से जो ताप लिया जाता है वह तापमान माना जाता है बुखार का। बात अब समझ में आ गई होगी। साढ़े अट्ठानवे को बुखार नहीं मानते। क्या वह तापमान नहीं है ? है, पर नहीं मानते। किन्तु कभी-कभी उसे भी मान लेते हैं। कब ? जब टायफॉयड हो जाये तो 98.5 डिग्री टेम्प्रेचर को भी बुखार मान लिया जाता है यह सोचकर कि पूरी जड़ नहीं कटी है। पूरी नार्मल अवस्था होनी चाहिये।

98.5 डिग्री नॉर्मल। 103 डिग्री तापमान है तो 98.5 डिग्री तापमान नहीं देता। किन्तु 103 डिग्री परेशानी देता है। वैसे ही औदयिक भाव में 98.5 डिग्री का तापमान चले तो वह परेशानी नहीं देता, किन्तु वही टेम्प्रेचर 102 डिग्री, 103 डिग्री तक चला जाये तो परेशानी देगा। उस समय धर्म-ध्यान नहीं होगा, न ही नवकार मंत्र मुँह से निकलेगा।

मोह कर्म की प्रगाढ़ता हो तो कहते हैं-

**पापी के मुँह से राम न निकले,**
**केशर ढुल गई.....।**

केशर तो ढुल रही है, अब तक ढोल ही रहे हैं। सही उपयोग किया ही कहाँ है ? किया होता तो आज यह दशा नहीं होती। पर लोग हैं कि समझ नहीं पा रहे हैं। अभी महासतीजी बता रहे थे पागलपन की नियति के बारे में। भले पागलपन में टूंटी मिल जाये पर जब तक खोलें नहीं तब तक टब खाली नहीं होगा। किन्तु हमारी दशा का अनुमान करें तो वह यह है कि चाहे केशर हो या कस्तूरी उसे घिस-घिसकर लीपने का जो घोल है, उसी में मिलाने का काम कर रहे हैं। आरंभ-परिग्रह का काम औदयिक भाव की परिणति है। पर धर्म-ध्यान करके भी किसे बढ़ाना चाहते हैं ? नाम तो धर्म है कि आराधना कर रहे हैं, किन्तु भाव औदयिक को पुष्ट करने का है तो वह साधना ऊपर के पगतिये पर नहीं चढ़ावेगी। इसलिए भगवान ने कहा है-

**मासे मासे उ जो वाले कुसग्गेणं तुं भुंजए....।**

वह तपस्या मंजिल तक चढ़ाना तो दूर, किन्तु पहले पगतिये तक ले जाने वाली भी नहीं है। इतना जोर लग रहा है फिर भी नहीं ले जायेगी। एक तरफ हम देखते हैं कि कूरगडूक संवत्सरी को उपवास नहीं कर पा रहा है। गुरु से अनुमति मांगता है, भूखा नहीं रहा जा रहा है। गुरु कहते हैं चलो भाई जितने समय तक पोरसी, दो पोरसी का समय निकला है, अब नहीं निकाल पाओ तो ले आओ। बासी खीचड़ा था, पर लूखा था। जो कथा में सुनते आये हैं। मुनियों को निवेदन करता है, धामता है। कई मुनियों ने कहा कि कर्म का उदय है, क्षुधा वेदनीय का योग है, रोक नहीं

पा रहा है। संवत्सरी है फिर भी पोरसी कर रहा है। एक साधु तप में अहंकार करने वाला, अपने आप को यह समझने वाला कि त्याग-तप है तो मेरे भीतर है। मेरे भीतर क्षीर समुद्र लहरा रहा है। दूसरे साधकों में तो लवण समुद्र है। यदि ऐसी मानसिकता किसी की बन जाये तो आचारांग सूत्र स्पष्ट कहता है कि ऐसी आत्मा मुक्ति प्राप्त करे, संभव नहीं है। मुक्ति उससे दूर ही रहती है। तुम्हारा आचरण शुद्ध है तो ढोल पीटकर घोषणा या दुंदुभिनाद करने की आवश्यकता नहीं। साधना सही है तो उसके विज्ञापन की आवश्यकता नहीं है। पर जैसे आज विज्ञापनबाजी का युग है, वैसे ही साधक भी विज्ञापन करने लगे तो क्या स्थिति होती है ? ऐसे साधक भी होते हैं और वहाँ भी कहने लगे- "अरे ! संवत्सरी के दिन भी उपवास नहीं। और क्या कर दिया - आक् थू।" तो क्या बहुत अच्छा काम कर दिया ? मानते हैं कि तू तपस्वी है, लंबी तपस्या करता है, किन्तु जब तक दूसरे को हीन समझने की भावना अपने से दूर नहीं करेगा, तब तक ऊपर से कितना ही कर ले पर मूल तो खूंटे से बंधा है। बंधे हो तो आगे कदम वढ़ नहीं पाएगा। व्यक्ति कितना ही कुछ कर ले पर जब तक बेड़ियां पैरों में पड़ी हैं, तब तक गति कैसे होगी ? इसलिए सबसे पहले संकेत दिया है कि यदि हम शांति को प्राप्त करना चाहते हैं, कल्याण चाहते हैं तो पहले भावों का बोध करें। कहीं ऐसा न हो कि एक तरफ उडान भरें और नीचे धागा बंधा रह जाये। प्लेन उड़ान करते हैं, कोई जाँच न हो पाये, चूक रह जाय, कदाचित् कोई गहरी खूंटी गाड़ कर सांकल से बांध ले और फिर वह उड़ान भरे तो कितनी भर पाएगा ? जहाँ सांकल-बंधी है, वहाँ से उड़ान भरे और धक्का लगे, तो वापस नीचे गिरेगा। इसी प्रकार साधक सोचे कि मैं तो ऊँचाई पर पहुँच गया हूँ तो वह भ्रांति में रहेगा। आकाश में उड़ने वाला हवाई जहाज छोटे से पक्षी से भी टकरा जाये तो गिर पड़ता है। इतना शक्तिशाली प्लेन जिसमें 400/500 व्यक्ति वैठते हैं। उसकी गति में एक पक्षी भी अवरोध पैदा कर सकता है। समुद्र में गिराये या जमीन पर कोई पता नहीं। वैसे ही साधक में अहंकार का भाव हो कि मेरी तपस्या और साधना वड़ी है, तो वह उसे उड़ान नहीं भरने देगी। अहंकार का भाव, तपस्या और साधना की शक्ति से भारी पड़ेगा। संवत्सरी के दिन तपस्या करने वाले भले ही लंवी तपस्या

करके बैठे हों, पर उसका फल नहीं मिलेगा, यदि अहं को उन्होंने विजित न किया हो। कूरगडूक खा रहा है। तो क्या तपस्या हो रही है ? तपस्या हो रही है तो खाना क्यों छोड़ें ? खाने से ही मोक्ष होना चाहिये। पर मोक्ष न खाने से मिलता है न तपस्या से। मोक्ष मिलता है समभाव से, कषाय मुक्ति से। कहा है-

**कषाय मुक्ति किल मुक्तिरेव।**

जब राग-द्वेष-कषाय पतले पड़ेंगे तब ऊपर उठेंगे। यदि राग-द्वेष-ईर्ष्या आदि के भाव गहरे हैं तो कितना ही कुछ कर लें, कोई लाभ मिलने वाला नहीं है। मासखमण-मासखमण कर लो, पंचाग्नि जलाकर भरी गर्मी में ताप ले लो या अन्य किसी ताप से शरीर को तपाओ, कोई ताप अंतर के ताप को हरने वाला नहीं, बल्कि बढाने वाला ही बनेगा। इसीलिए ज्ञानी कहते हैं- पतला करो।

शिष्य गुरुदेव के पास पहुँचा- "भंते ! मैं संथारा करना चाहता हूँ।" गुरु में कहा- "कृश करो, पतला करो।" शिष्य ने सोचा- शरीर हृष्ट-पुष्ट है, तो तपस्या करनी चाहिये। कर लिया मासखमण। फिर आया- "अब संथारा करवा दो।" गुरु ने फिर कहा- "कृश करो।" फिर करने लगा, शरीर सूख गया। "गुरुदेव अब करवा दो", फिर वही उत्तर- "कृश करो। कृश करो।" शिष्य आश्चर्य में- "रह क्या गया है मेरे शरीर में ?"

धन्ना अणगार का वर्णन सुना होगा। शरीर में क्या बचा था ? चलेंगे तो सबसे पहले उठना पड़ता, उससे भी मन में ग्लानि होती होगी। बोलना पड़ेगा, इसलिए ग्लानि पैदा होती और चलते तो जैसे भंगार की गाड़ी खड़-खड़ बजती है। वैसे ही हाड़ खड़-खड़ करते। ऐसी ही काया कृश हो गई थी उस शिष्य की। वह गुरु के पास आया, उन्होंने फिर कहा- "कृश करो।" उसने सोचा- कहीं माँस का नाम नहीं। अब तो हड्डियाँ रह गई हैं। नसें दिख रही हैं, फिर भी कहते हैं- "कृश करो"। उसने अपनी कृशता दिखा दी। अंगुली मरोड़ी तो वह सूखी फली की तरह टूट गई। टूटकर चमड़ी में लटक गई। पूछा- "और क्या कृश करूँ?" गुरु ने कहा- "जिसे कृश करना था, उसे कृश नहीं किया।

काया को बहुत सुखाया, पर भाव तो अभी भी हरे-भरे ही हैं। औदयिक भाव का जोर चल रहा है। ऐसे हरे-भरे भाव में संथारा कर लोगे तो इस लोक, परलोक की भावना चलेगी। लोग दर्शन करेंगे। धन्य हो ! धन्य हो !! ऐसे में विचार आयेगा कि संथारा कुछ दिन और चले तो क्या आराधना हुई ? ज्ञानी कहते हैं कि वह अतिचार बन जाएगा। ऐसी कामना भी साधक के लिए निषिद्ध है। फिर भी हम सोच नहीं पाते और कैसी-कैसी स्थिति पनपा देते हैं। गौर करने की आवश्यकता है कि जब तक औदयिक भाव को पतला-नीरस नहीं करेंगे, तब तक शांति के सोपान, कल्याण की स्टेज पर पहुँचना भी शक्य नहीं हो सकता।

पंडित भाव कैसे होता है ? इस संदर्भ में ढेर सारे उदाहरण है। प्रभु के 28वें वर्ष की स्थिति जब आई तब उन्होंने (सिद्धार्थ व माता त्रिशला ने) देखा कि उनके शरीर शिथिल हो रहे थे। तब उन्होंने विचार किया कि जब तक उत्थान-कर्म-बल-वीर्य पराक्रम है, शरीर में कुछ भी ताकत है, तब तक आत्मभाव की प्राप्ति कर लेनी चाहिये और उन्होंने अनशन स्वीकार कर लिया। वे प्रभु पार्श्व के व्रतधारी श्रावक-श्राविका थे इसलिए धर्म के तत्त्व का उन्हें ज्ञान था। उन्होंने अपने राग-द्वेष को पतला कर तथा कषाय-अहंकार को बहुत पतला कर संथारा संलेखना कर शरीर ही कृश नहीं किया, बल्कि इहलोक-परलोक की साधना भी कर ली। आराधना करके वे देवलोक में पहुँचे। वहाँ सुखों का भोगकर, महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर वे देह का निस्तार करेंगे और फिर सदा-सर्वदा के लिए औदरिक, तेजस-कार्मण, वैक्रिय आहारक आदि सारे शरीरों का त्याग कर देंगे। औदरिक शरीर छूटता है तो हम वैक्रिय बना लेते हैं। वैक्रिय छूटता है तो औदरिक, क्योंकि कार्मण मौजूद है। जब तक कार्मण मौजूद रहता है व्यक्ति नये-नये शरीर बनाता रहता है। इसलिए हे साधक ! यदि तुम्हें क्षय ही करना है तो कार्मण का क्षय करो। औदरिक पतला है या मोटा है इससे मतलब नहीं, कार्मण को क्षय करने में शक्ति संयोजित करो। कार्मण का क्षय करके जीवन परिष्कार कर ही मुक्ति को प्राप्त कर पाओगे।

10.10.2000

❖ ❖ ❖

# 14. शान्ति का पहला पगथिया

जो भी शांति चाहता है, कल्याण चाहता है उसके लिये तीर्थंकर देवों की वाणी पर अविचल विश्वास भाव विकसित करने की महती आवश्यकता है। भावों की बात को इसलिये पहले समझें।

**भाव अविशुद्ध सुविशुद्ध जे......।**

भावों के संबंध में मैंने बतलाया था कि वे औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिमाणिक होते हैं, किन्तु दूसरे संदर्भ में जीवादि पदार्थों को भी भाव कहा गया है। इनके स्वरूप पर यदि हम चिन्तन करें तो शुद्ध क्या है ? अशुद्ध क्या है ? और दोनों का मिश्रित रूप क्या है ? जीवतत्त्व जो सिद्ध स्वरूप को प्राप्त कर चुका है, वह जीव शुद्ध स्वरूप है। अजीव वह जो परमाणु है; वह अजीव का शुद्ध स्वरूप है। अजीव में वैसे धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय अपने आप में शुद्ध द्रव्य कहलाते हैं क्योंकि वे किसी के साथ मिश्रण रूप नहीं बनते हैं। जीव और पुद्गल, ये दोनों ऐसे हैं, जिनका परस्पर मिश्रण होता रहा है। यद्यपि जीव कभी भी अजीव नहीं होता और अजीव कभी जीव नहीं होता। अजीव-अजीव ही रहता है। चेतन-चेतन के रूप में ही रहता है, चाहे कितना ही कर्मों का बंध हो जाये। गहरे कर्म-बंध भी हो जायें तो उसके पश्चात् भी शास्त्रकार कहते हैं- अक्षर के अनन्तवें भाग जैसी अवस्था तो निश्चित रूप से प्रत्येक जीव में उद्घाटित रहती है। यदि यह भी न रहे तो जीव भी अजीव की स्थिति में आ जावेगा, चाहे वह कैसी भी अवस्था में है। चलते-फिरते रूप में हम त्रस को देख रहे हैं। मनुष्य को और उसके अलावा मक्खी, मच्छर आदि प्राणी भी चेतना हैं और 5 स्थावर के रूप में हैं, उनमें भी अव्यक्त चेतना है। पृथ्वीकाय, अप्काय या तेउकाय, किसी भी अवस्था में रहे हुए हों, प्रत्येक जीव में संवेदन शक्ति है। प्रत्येक चेतना संवेदनशील होती है, चाहे वह वहुत मंद ही हो।

किसी के अंदर संवेदन अधिक भी होती है। संवेदन अल्प है या अधिक है यह उसमें विकास की अवस्था पर निर्भर है। पर जहाँ संवेदन है, वहाँ जीवत्व निश्चित है। ऐसा कोई भी जीव नहीं, जिसमें संवेदन न होता हो। यह अलग बात है कि हमें कई बार, कई बातें ज्ञात नहीं हो पाती।

एक व्यक्ति चल रहा है। चलते-चलते बगीचे में पहुँच गया। वहाँ की वनस्पति को देखा तो उसके मन में कई प्रकार के विचार बनें। उसी वनस्पति को देखकर मन में तोड़ने, तहस-नहस करने का विचार भी पैदा हो जाता है, परन्तु हमें ज्ञात नहीं हो पाता, जबकि भगवान महावीर ने कहा है कि हमारे मन में यदि तहस-नहस करने का विचार भी बनता है, तो वनस्पति पर उसका प्रभाव होता है। आज के वैज्ञानिकों ने तो इसे अब सिद्ध किया है, किन्तु भगवान महावीर ने कहा- तुम ग्रामानुग्राम विचरण करते हो, इसलिए तुम्हें वचन पर कंट्रोल रखना है। मन में भी अशुभ चिन्तन नहीं करना है और यह भी ध्यान रखना है कि कहीं ऐसा नहीं हो जाये कि हम सोच लें कि ये तो समझने वाले नहीं है इसलिये कुछ भी अभिव्यक्ति कर दो। यदि वृक्ष को देखकर बोलें कि ये तो बहुत मोटा है, इसकी लकड़ी के तो व्याख्यान के लिए पाटे बन सकते हैं और धर्मस्थान के दरवाजे भी बन सकते हैं, तो ऐसी भाषा से भी वनस्पति को पीड़ा होती है, कष्ट होता है। यह भगवान महावीर ने 2500 वर्ष से भी पहले कहा था, किन्तु बीच के समय में लोग यह समझते रहे कि ये तो पोथी की बातें हैं, ऐसा होता थोड़े ही है कि हम बोलें और वनस्पति को पीड़ा हो। भगवान महावीर ने कहा था कि उन्हें भी दर्द की अनुभूति होती है।

आचारांग सूत्र में बारीकी से विवेचन किया गया है और उदाहरण देकर बतलाया गया है कि एक व्यक्ति जो जन्म से ही आँखों से देखता नहीं है, कानों से सुनता नहीं है, मुँह से बोल नहीं पाता है, उसे भी कोई सूई चुभावे, शस्त्र का उस पर प्रयोग करे, तो उसे वेदना होती है, पर वह बोल नहीं पाता। वैसे ही कई बच्चे जो जन्म से ही सुनते-बोलते नहीं, आँखों से भी कुछ देख नहीं पाते, कोई मुँह से नहीं बोल पाता तो आँखों से तो बोल देता है। पर उनके शस्त्र लगायें तो उन्हें भी वेदना होती है।

वैसे ही भगवान महावीर कहते हैं- पृथ्वीकायिक जीव जिनके अस्तित्व पर कई व्यक्ति विचार कर सकते हैं, पर जैसे- बहरे-गूंगे व्यक्ति के लिये सूई की चुभन वेदना का कारण होती है, वैसे ही यदि पृथ्वीकाय का यदि आरंभ किया जाता है तो उन्हें भी पीड़ा होती है। इसलिए यदि तुम उस जीवतत्त्व के स्वरूप को जान लोगे तो उसकी पीड़ा को भी जान पाओगे और उस पीड़ा से होने वाले उसके भीतर के भाव भी जान जाओगे। यदि उसे नहीं जान पाते हो तो भगवान कहते हैं- न तो संयम की अवस्था होगी, न ही त्याग-प्रत्याख्यान सही ढंग से संपन्न हो सकेंगे-

**जो जीवे वि न जाणेइ, अजीवे वि न जाणेइ।**
**जीवाजीवे अजाणंतो, कहं सो णाहीइ संजमं ?**

जो जीव-अजीव के स्वरूप को नहीं जानता, वह चाहे साधु बन जाये या श्रावक व्रत स्वीकार कर ले, पर वह आराधना-पालना नहीं कर पाएगा। यदि जीव-अजीव को जानता ही नहीं तो किसका संयम करेगा ? वहाँ जो प्रवृत्ति होगी, उससे जीवों का घमसान हो जाएगा। आचारांग में बताया गया है कि कई पृथ्वीकाय का आरंभ करने वाले कहते हैं कि हम तो धर्म-आराधना कर रहे हैं, पर वास्तव में वे जीव का घात करने वाले बन जाते हैं।

कई व्यक्ति सूर्य को तर्पण करते हैं। अप्काय, वनस्पतिकाय की हिंसा करते हैं और वे सोचें कि वे धर्म-आराधना कर रहे हैं, तो भगवान कहते हैं कि यह मिथ्या बात है। आचारांग कहता है कि ऐसी बात कहने वाले त्याग को या धर्म को जानते ही नहीं क्योंकि कोई भी जीव आपको यह अनुमति नहीं देता कि आप उसके शरीर का विनाश कर दें। बिना अनुमति के हनन करें तो वह उन प्राणियों के धन का हरण भी कर रहा होता है। भले ही उसे लगता हो कि ये तो अहिंसा का स्वरूप है। साधु के 5 महाव्रतों के संबंध में भी इसे समझें। यदि वह दूसरे प्राणियों का हनन करता है, तो बड़े रूप में यह तो लगता है कि वह हिंसा कर रहा है, किन्तु यथार्थ में वह हिंसा के साथ चोरी भी कर रहा होता है। वह प्राण का हरण कर रहा होता है, जो चोरी है। भगवान ने इसकी आज्ञा भी नहीं दी है इसलिए श्रावक के स्थूल अदत्त का त्याग होता है। परिवार में

रह रहा है, हिंसा किये बिना, प्राण हरण किये बिना जीवन का निर्वाह हो नहीं पाता है। कोई सोच ले मैं संसार में तो रहूँगा, परन्तु किसी भी प्राणी का हनन नहीं करूंगा, न कराऊंगा, करने वाले को अच्छा भी नहीं समझूंगा तो क्या ये प्रतिज्ञाएँ निभ सकती है ? नहीं। परन्तु जो श्रावक संथारा ग्रहण करता है। उस समय वह साधु व्रत स्वीकार किये बिना भी इन प्रतिज्ञाओं का पालन करता है। तीन करण, तीन योग से 18 पापों का त्याग करता है। वह प्रतिज्ञा लेता है कि मैं सर्वथा हिंसा करूंगा नहीं, कराऊंगा नहीं, अनुमोदन भी नहीं करना फिर भी वह साधु नहीं है, श्रावक है। हालाँकि उस अवस्था में 3 करण, 3 योग से ऐसी प्रतिज्ञा ली जा सकती है, पर आप सामान्य अवस्था में सम्पूर्णतया तीन करण, तीन योग से ऐसी हिंसा न करने की प्रतिज्ञा स्वीकार कर नहीं पाओगे। यह संभव भी नहीं है क्योंकि वह रसोई भले न बनाये, किन्तु बनाई हुई तो ग्रहण करेगा। तो वहाँ हिंसा कराने का, अनुमोदन करने का संबंध जुड़ेगा। बहुत से भाई रसोई नहीं बनाते, बहने ही बनाती हैं, तो भाईयों को क्या पाप कर्म नहीं लगेगा ? लगेगा, क्योंकि वहाँ सहमति होने से पापकर्म का संयोग जुड़ता है। इसलिए श्रावकों के लिए कहा है कि वे स्थूल रूप से अहिंसा, सत्य आदि को स्वीकार कर सकते हैं। स्वदार संतोष और परदार विवर्जन का व्रत कुछ समय के लिए और पूर्ण सामर्थ्य हो तो ब्रह्मचर्य व्रत स्वीकार कर सकता है, किन्तु अपरिग्रह को भी पूर्णतया स्वीकार नहीं कर सकता क्योंकि गृहस्थ जीवन में रहते हुए अनुमोदन क्रिया खुली रह जाती है। उनके रहते वह – "सव्वं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि" नहीं कर पाता। श्रावक अवस्था में रहते हुए आरंभ-समारंभ खुला रहता है, किन्तु श्रावक का यह कर्त्तव्य है कि वह सोचे, आरंभ-समारंभ खुला है तो, करता ही न चला जावे। भगवान ने वृत्ति संक्षेप के लिए कहा है कि लाचारी है, क्या करूं ? जीवन बसर करने, परिवार के निर्वाह के लिए यह पाप, आश्रव का सेवन करना पड़ रहा है।

एक व्यक्ति को गंभीर बीमारी हो जाये, डॉक्टर कहे कि इसे दूर करने के लिए संखिया लेनी होगी। संखिया जहर होता है, पर जब उसका और कोई इलाज नहीं है तो लेनी पड़ेगी। एक व्यक्ति को कोई गंभीर

बीमारी हुई, वह ऐसी थी कि दूर ही नहीं हो रही थी। किसी ने सुझाव दिया कि अमुक वैद्य इसका इलाज करते हैं। वहाँ पहुँचा तो वैद्य ने कहा इसका कोई इलाज नहीं है। उसे भयंकर वेदना हो रही थी। उसने सोचा लाइलाज बीमारी है, तो जीवन लीला समाप्त कर देनी चाहिये। वह बाहर गया। एक जगह पानी पड़ा था, उसमें सर्प था। उसने सोचा ये पानी पी लूं और पी लिया। थोड़ी देर बाद विरेचन हुआ। लग रहा था अब तो मृत्यु का समय आ गया है, सर्प का जहर पीया है, किन्तु उसी समय दस्त हुई, वमन हुआ और काया कंचन हो गई। उसने सोचा क्या बात है ? मैंने तो सोचा था कि मर जाऊँगा, पर स्वस्थ हो गया। दौड़कर वह वैद्यराजजी के पास गया। देखते ही वैद्यजी ने पूछा "क्या तुमने सर्प का झूठा या मिश्रित जलपान किया है ?" उसने कहा- "हाँ ! आपने कैसे जाना ?" वैद्यराज ने कहा- "मैं जानता था कि हरसंभव प्रयत्न में कोई भी व्यक्ति जहर पीने को तैयार नहीं होता। मैंने इसलिए कह दिया था लाइलाज। पर लगता है कि तुमने जहर पान किया है, इसीलिये काया कंचन बन गई है।"

एक व्यक्ति कैंसर का मरीज था। डॉक्टर ने कह दिया था कि कैंसर की बीमारी है। उसने बॉम्बे जसलोक हॉस्पीटल के डॉक्टर की दवाई ले ली। इलाज लिया, पर दिन ब दिन हालत बिगड़ती चली गई। बाद में डॉक्टर ने हाथ ऊँचे कर दिये। कह दिया कि फाइनल स्टेज आ गई है, अब बच नहीं सकते। अब तो बस भगवान का स्मरण करो।" उस व्यक्ति ने अपनी राम कहानी में लिखा है कि मुझे चारों तरफ अंधेरा ही अंधेरा नजर आने लगा था। जिन्दगी के आसार नजर नहीं आ रहे थे। चारों ओर मौत का शिकंजा कसा दीखता था। किसी भी कार्य में मन नहीं लगता था, भूख समाप्त हो गई थी। ऐसी हालत में एक मित्र मिलने आया, उसने कहा- "बीमारी है तो कभी स्वमूत्र का प्रयोग किया है या नहीं ?" रोगी व्यक्ति ने पूछा- "वह कैसे करना है ?" तो मित्र उसे एक जानकार व्यक्ति के पास ले गया। उसके बाद वह उसके द्वारा बतायी गई विधि के अनुसार चिकित्सा करने लगा। पहले तो बड़ी कठिनाई से गले के नीचे पहुँचा। जब पानी भी बंद हो गया तो वह कैसे उतरे। किन्तु 12 दिन तक प्रयोग किया। 12वें दिन रात्रि में पेट में भयंकर वेदना आरंभ हुई

और असह्य स्थिति बन गई। फिर शौच की शंका हुई। भयंकर बदबूदार दस्त हुई, किन्तु उसके बाद लगा शरीर में आराम है, तंदुरुस्ती लगी। फिर उसी के निर्देश में चिकित्सा चलती रही। फिर 27वें दिन पेट साफ हो गया। प्यास सतानें लगी, भूख लगने लगी। परिवार वालों से कहा- भूख लगी है। दूध पीया, धीरे-धीरे खुराक बढती चली गई। कुछ दिनों के बाद पुनः जसलोक अस्पताल में पहुँचकर कहा- "चेकअप कीजिये।" डॉक्टरों ने चेकअप करके कहा- कोई बीमारी नहीं है। सारी जाँचें करवा ली। बीमारी नदारद थी। पुरानी रिपोर्ट डॉक्टर की टेबल पर रखी। डॉक्टर ने पूछा- "क्या ये आपकी है ?" उसने कहा- "मेरी ही है। आपने ही तो दवाई दी थी।" डॉक्टर ने कहा- "विश्वास नहीं होता है।" उसने सारी प्रक्रिया बता दी और कहा- आप अनुमति दें तो आपके मरीजों पर प्रयोग करूँ। पर वह तो हॉस्पीटल ठहरा वहाँ का डॉक्टर क्यों रिस्क लेता। उसने कहा- "यहाँ मरीजों पर ये प्रयोग नहीं हो सकता। मैं विश्वास नहीं कर सकता।" उस पुराने रोगी ने कहा- "आप विश्वास करें न करें, पर मुझे शत-प्रतिशत लाभ हुआ है।" बन्धुओं ! पेशाब भी एक प्रकार का जहर है, जो हमारे शरीर में खाने के बाद बनता है। आप ये मत सोचना शरीर में जहर का निर्माण नहीं होता। बल्कि यहाँ तक कहा गया कि सर्प के जहर की तुलना में मनुष्य के शरीर का जहर अधिक घातक होता है। उसे यदि निकाला जाये तो वह काफी फैलाव कर सकता है, इतना जहर हमारे भीतर होता है।

कई बातें, कई बार सामने आ जाती हैं। एक व्यक्ति ने गुस्सा किया, गुस्सा करने से पूर्व खून की जाँच की गई थी और गुस्सा करने के बाद पुनः जाँच की गई। पहले जो हीमोग्लोबिन बताया गया था वह गुस्से में जल गया और उसके खून में अनेक प्रकार के जहर उत्पन्न हो गये थे। ब्लड, यूरिया, यूरिक एसिड ये क्या है ? ये जहर हैं और हमारी जीवन-लीला समाप्त कर सकते हैं। जब तक शरीर के अवयव काम करते रहते हैं, शरीर कई प्रकार के जहर बाहर निकालता रहता है। जब अवयव काम करना बंद कर देते हैं, तब वे जहर शरीर में ही रह जाते हैं। जिन्हें बाहर निकालते हैं उन्हें ही पुनः ग्रहण किया जाता है, तो जैसे-

जहर से जहर कटाता है, वही बात बन जाती है। व्यवहार सूत्र में बताया गया है कि यदि साधु को सर्प काटने की स्थिति बने तो मोक चिकित्सा की जाये। यदि स्वमूत्र न मिले तो अन्य साधु का और अपवाद मार्ग में बताया गया है कि साधुओं ने शारीरिक चिन्ता निवृत्ति कर ली हो तो साध्वियों से भी ग्रहण कर चिकित्सा करे। ये अपवाद मार्ग हैं। इस प्रकार चिकित्सा पद्धति से जो जहर पहुँच जाता है, वह पूर्व के जहर को समाप्त कर देता है। पर जानकारी न हो तो निदान प्राप्त नहीं हो पाता। ये बाहर के जहर हैं, पर भीतर के जहर कषाय है। कोई सोचे कषाय से कषाय कट जाएगा तो समझ लें नहीं कटेगा। कषाय को तो अकषाय ही काटने वाला है और अजहर उसे समाप्त करता है, जो प्रकट होता है संयम से। आरंभ-समारंभ से जब वह ऊपर उठता है, तो संयम का प्रादुर्भाव होता है और अकषाय की अवस्था बनती है। अकषाय अर्थात् क्षमा, मृदुता, सहजता, सरलता ये भीतर के जहर समाप्त करने में सहयोगी हैं। पर इन विषयों एवं भावों का जब तक ज्ञान नहीं होता, तब तक शांति कहाँ प्राप्त कर पाएंगे ?

कवि आनन्दघनजी कह रहे हैं-

**भाव अविशुद्ध सुविशुद्ध जे.....।**

बन्धुओं ! जैसे उस रोगी ने स्वमूत्र पद्धति पर विश्वास किया और स्वमूत्र चिकित्सा का प्रसंग बना तो रोग भी कटा और आराम भी मिला। परन्तु विश्वास बिना सेवन करता तो वह लाभ नहीं मिलता। विश्वास किया, तभी सेवन कर पाया और फल प्राप्त कर पाया, नहीं तो कर नहीं पाता। एक चिकित्सा के माध्यम से शरीर की बीमारी समाप्त हुई, इसीलिए ज्ञानी कहते हैं कि हमें भी तीर्थंकर देवों ने बताया है कि तत्वों का, भावों का सही श्रद्धान कर लेवें।

**ते तेम अवितथ सद्धहे।**

'ते' अर्थात् वे जिस प्रकार कह रहे हैं, 'तेम' याने उसी प्रकार से वितथ अर्थात् तथ्य, उसमें विकल्प घुस गया है। विकल्प सहित जो तथ्य है वह वितथ है। सही स्थिति नहीं रह पाई है। अवितथ याने विकल्प

का जिसमें अभाव हो गया है। यथार्थ है, सही है। यथार्थ रूप में उन भावों पर श्रद्धान बनता है, तो हम शांति का सोपान प्राप्त कर पाते हैं।

बहुत बार ऐसा भी होता है कि व्यक्ति जानता हुआ भी समय पर अनजान बन जाता है। अपने विश्वास को, श्रद्धान को कायम रख नहीं पाता। उदाहरण के तौर पर हम नन्दीवर्धन के प्रसंग को ध्यान में ले सकते हैं। नंदीवर्धन भी जानते थे कि जो जन्मा है, उसकी मृत्यु निश्चित है, पर जब सिद्धार्थ राजा एवं त्रिशला ने संथारापूर्वक अपनी देह का त्याग किया तो नन्दीवर्धन की रुलाई फूट पड़ी।

ऐसा केवल नन्दीवर्धन के साथ ही नहीं होता है। अनेक भाई-बहिन जो यहाँ मौजूद है, जो धर्म की आराधना कर रहे हैं, क्या उनके द्वारा ऐसा कभी नहीं हुआ ? वे ऐसे प्रसंग पर कभी रोए तो नहीं ? यदि पूछ लें किसलिए रोए ? क्यों रोए ? तो हमारे पास उसका उत्तर भी नहीं है। यथार्थ में रोना, यह मोह कर्म का ही एक रूप है। हमारा जिससे संयोग था, हम जिसे अपना मान रहे थे, उसके नहीं रहने की स्थिति हमको बेभान कर देती है। जबकि हम जानते हैं कि ये रिश्ते-नाते शरीर के रहने तक ही होते हैं। शरीर समाप्ति के बाद कौन किसका होता है ? वर्तमान में तो शरीर की विद्यमान अवस्था में भी ये रिश्ते-नाते समाप्त हो जाते हैं, पर वह भी मोहकर्म-कषायकर्म का ही एक रूप होता है। मूल में जानते हुए भी समय पर उस जाणपणे का उपयोग नहीं कर पाते हैं। इसे विश्वास या श्रद्धान की कमजोरी कह सकते हैं। यह भी संभव है कि उस समय मोह के बादल घने बन जाते हैं, जिसके पीछे हमारा श्रद्धान रूपी आत्मभाव छिप जाता हो, जिससे जानते हुए भी अनजान जैसी स्थितियाँ बन जाती है।

नंदीवर्धन शोक निमग्न थे। उन्हें लग रहा था उन पर पहाड़ टूट पड़ा हो। ऐसे समय में वर्धमान नंदीवर्धन से निवेदन करते हैं- भैया ! जन्म के साथ मरण की परम्परा अविच्छिन्न रूप से लगी हुई है। जन्म के साथ मरण जुड़ा हुआ है, किन्तु मरण के साथ जन्म नहीं जुड़ा हुआ है। जो जन्मा है वह मरेगा, किन्तु मरने वाला जन्मेगा यह जरूरी नहीं है। ऐसी

करणी कर चलो कि फिर जन्म न लेना पड़े। यही बात मेघकुमार की माता ने कही थी- बेटा ! ऐसी करणी करना कि पुनः पुनः दूसरी माता के गर्भ में आना न पड़े और उन माताओं को वियोग का कष्ट सहना न पड़े। वैसी स्थिति हो जाती है तो व्यक्ति शरीर को छोड़ता है, जिसे हम मरण संज्ञा देते हैं, पर उसे मरण न कहकर निर्वाण कहते हैं। वह निर्वाण है क्योंकि अब मरण के बाद जन्म नहीं है। जन्म प्रक्रिया से निवृत्ति हो जाना उसी का निर्वाण होता है, पर जन्म के साथ शरीर के त्याग या छूटने का संबंध निश्चित रूप से बना हुआ है। वर्धमान नंदीवर्धन को समझाते हुए फिर कहते हैं- भैया! जन्म-मरण की प्रक्रिया अविराम चल रही है। हम सोच रहे हैं माता-पिता का मरण हो गया, अमुक समय में हो गया, किन्तु किसी एक समय में, एक टाइम पर मरण नहीं हुआ है। हमारा मरण तो प्रतिक्षण प्रतिपल हो रहा है। 2 प्रकार के मरण है जिसमें एक आवीचिक मरण है। वह प्रतिक्षण होता है। जितना भी समय संसार में व्यतीत किया है, आयु का भोग किया है, वह सारा का सारा समय क्षीण हुआ या नहीं ? शास्त्रकारों ने इसे इस प्रकार समझाया कि एक रस्सी जिसके एक छोर पर चिनगारी लगायी किन्तु कब जलेगी ? जब अंतिम छोर भी जल जाएगा तब कहेंगे कि पूर्णतया जल गई, किन्तु थोड़ी सी जली है तो कहते हैं कि रस्सी जल रही है या जल गई। जितनी जली उतनी तो जल ही गई। जलते-जलते अंतिम छोर भी जल जायेगा। इसलिए प्रभु का सिद्धान्त है कि पहली बूंद घड़े को नहीं भर सकती तो अंतिम बूंद भी घड़े को नहीं भर सकती। पहली बूंद से घड़ा भरा है तो अंतिम बूंद भी घड़े को भरने वाली बनेगी। यदि प्रथम बूंद घड़े को नहीं भर पायी तो अंतिम बूंद भी घड़े को भर नहीं पाएगी। प्रथम समय रस्सी नहीं जली तो अंतिम क्षण भी नहीं जल सकेगी। एक-एक बूंद से घड़ा भरा, किन्तु सभी के सहयोग से भरा। वैसे ही एक-एक क्षण बीत रहा है वह मृत्यु में जा रहा है। प्रतिक्षण, प्रतिपल हम मर रहे हैं। फिर भी मरण को समझ नहीं पा रहे हैं वधमान भाई को बोध कराते हैं, भाई माता-पिता के मृत्यु की जो स्थिति बनी है। दुसरा मरण है आयु के क्षय होने से उसे भी कोई रोक नहीं पाते है। कोई नहीं बच पाया है, न बच पाएंगे। इसे रोकने में कोई समर्थ नहीं। और तो क्या तीर्थंकर भी नहीं रोक पाते हैं।

जितने भी हुए हैं, वर्तमान में है या होंगे, कोई भी आयु नहीं बढ़ा सकते। मौत को टाल नहीं सकते। जब तीर्थंकर भी आयु को नहीं बढ़ा सकते तो औरों की बात ही क्या है। आप शोक से ऊपर उठे। गई हुई चीज लौट नहीं सकती। शोक से कर्मबंध होता है। शोक भाव दूर करो। ये वीरों का काम नहीं है। कायर, जिन्हें यथार्थ का ज्ञान नहीं वे शोक करते है किन्तु जो सत्य तथ्य को जानते है, अनुभव करते है ऐसे वीर पुरुष ऐसा व्यवहार नहीं कर पाते। नंदीवर्धन समझ गये। जब यथार्थ बोध जागृत होता है तब वह शोक से ऊपर उठ शांत भाव का अनुभव करता है। तीर्थंकर देवों ने जो भावों का स्वरूप प्रस्तुत किया है, उसे उसी प्रकार से समझना है। यथार्थ को जानकर, जीवन में जोड़ने का प्रयत्न करें तो निश्चित है कि एक भी शांति के सोपान पर आरूढ़ हुए तो परिपूर्ण शांति को प्राप्त करने में समर्थ हो पाएंगें।

11.10.2000

# 15. अंतरमन तक पैठ

शांति की कामना सभी को होती है। सभी चाहते हैं शान्ति प्राप्त हो, किन्तु चाहने मात्र से तो शान्ति प्राप्त हो नहीं सकती। उसकी प्राप्ति की कुछ अर्हताएँ हैं, कुछ पात्रताएँ हैं और कुछ सोपान हैं। इनमें प्रथम तो यही है कि मन में उद्वेलन न हो। वह सहज हो, जिससे भावों को उनके सही रूप और भंगिमा ग्रहण करने की मानसिकता बनी रहे क्योंकि मानसिकता एक प्रकार से प्रतिबिम्ब होती है और उसके अनुसार ही कोई स्थिति या अवस्था निर्मित हो पाती है।

दूसरे शब्दों में यदि कहा जाये तो भाव प्रोजेक्टर हैं और उस प्रोजेक्टर से जो पर्दे पर आता है, उसे ही हम देख पाते हैं। हम प्रोजेक्टर में रहे हुए को नहीं देख पाते हैं। सिनेमा हॉल में भी प्रोजेक्टर होता है, उसमें रील फीट होती है। वह चालू होता है तब उसके अन्दर भरी हुई रील का प्रतिबिम्ब पर्दे पर पड़ता है। कोई व्यक्ति पर्दे पर पड़ने वाले बिम्बों को देखकर ही नाखुश या खुश हो जाये, हर्षातिरेक से उसे पकड़ने दौड़े या क्रोधित होकर मारने दौड़े, तो आप कहेंगे पागल है। पर्दे में क्या पड़ा है ? पर्दा तो पहले भी खाली था और जब प्रोजेक्टर बंद कर दिया जायेगा, तब पर्दा फिर खाली हो जाएगा। जो भी बिंव हम देखते हैं उनका प्रोजेक्टर द्वारा पर्दे पर प्रक्षेपण किया जाता है। वहीं से जो रिले किये जाते हैं, पर्दे पर उनका प्रतिबिम्ब आता है। पर भावों में खोया व्यक्ति एकाएक यह अनुभव कर नहीं पाता है। बारीकी से यदि वह अनुभव करने लगे तो पर्दे को देखने की आवश्यकता नहीं रहे। किन्तु अधिकांशतया हमारी दृष्टि पर्दे पर ही टिकी रहती है और पर्दे की हलचल से ही हम किंकर्त्तव्यविमूढ़ अवस्था में आ जाते हैं। इसलिए ज्ञानी कहते हैं- यथार्थ का ज्ञान करो; पर्दे को पर्दे के रूप में जानो क्योंकि पर्दे पर आने वाले प्रतिबिम्ब से झगड़ा या मोहब्बत करने में कोई सार्थकता नहीं है। अपने भीतर के

प्रोजेक्टर को देखने का प्रयत्न करो, यदि वह प्रोजेक्टर देखा जाये तो सारी समस्या का समाधान हो जायेगा। तब सारी सृष्टि को तुम अपने भीतर देखने में समर्थ हो जाओगे। हम वट के वृक्ष को देखते हैं, पर वट वृक्ष के बीज में वृक्ष को देख नहीं पाते। किन्तु वट का वृक्ष है कहाँ ? है तो बीज के अंदर ही। उस बीज के भीतर वृक्ष का पूरा नक्शा मौजूद रहता है। गर्भ में जीव आता है और वहाँ पहले-पहल जो आहार ग्रहण करता है वह होता है एक बिन्दु और उस एक बिन्दु में पूरे जीवन का नक्शा तय हो जाता है। पूरी निर्माण की प्रक्रिया वहाँ से तय हो जाती है। आँखों का आकार, नाक की बनावट और मुँह का रूप कैसा रहेगा, सब तय हो जाता है। अंगूठे, अंगुलियाँ पाँच होंगी या एक लटकी हुई अंगुली रहेगी ? चमड़ी का वर्ण कैसा होगा- काला, गेहुआं या गोरा ये सारी बातें उस एक बिन्दु में निहित होती हैं, किन्तु हमारी दृष्टि उस बिन्दु में रहे उस रूप को जानने में समर्थ नहीं हो पाती। यही कारण है कि हम पर्दे पर देखने के अभ्यस्त बन गये हैं और पर्दे पर जब वे चित्र आते हैं तभी हम उनकी वास्तविकता को पहचान पाते हैं। इस प्रकार हमारी संस्कृति रिटर्न की है इसलिए प्रतिक्रमण की बात है।

हम गति वहुत करते हैं, किन्तु तीर्थंकर देवों ने कहा है- गति नहीं, बहुत चल चुके हो इतने चल चुके, इतने चल चुके कि अब थककर चूर हो गये हो। अब गति नहीं, विश्राम लो, लौटने का प्रयत्न करो। यदि लौट गये तो वस्तुतः धन्य-धन्य हो जाओगे। शालिभद्र के घर में रोज पेटियाँ उतरती थीं। बेटियाँ नहीं, उतरती थीं पेटियाँ। आज तो बेटियाँ उतरें तो भी निहाल हो जायें। अव बेटों का युग गया, वेटियों का आ रहा है। कभी वेटे वालों का युग था, अव वेटियों का आ रहा है। कभी वेटे वालों की पाँचों अंगुलियाँ घी में रहती थी, पर अव वह जमाना नहीं रहा है। यदि यही स्थिति रही तो यह होगा कि इतने रुपये रखो तो वेटी मिलेगी। वीच के युग में ऐसी स्थिति रही कि थैलियाँ रखो तो वेटी की शादी हो।

किन्तु शालिभद्र के यहाँ वात भिन्न थी। गोभद्र सेठ का शालिभद्र के प्रति ममत्व रहा था। देवलोक से प्रतिदिन 33-33 पेटियाँ आती थीं, चाहे कोई भी भेज रहा हो, ये तो निमित्त था। मूल में शालिभद्र के विन्दु

में ये सारा निहित, निश्चित था। शालिभद्र के प्रोजेक्टर में भरा था, वही तो बाहर आ रहा था। हम तो देख लेते हैं कि 33-33 पेटियाँ उतर रही हैं, पर उतरने का कारण क्या है ? कारण को ढूंढने का प्रयत्न करो। उसे ढूंढ लिया तो दुःख दूर हो जाएगा। वैसे ही अशांति के कारण को ढूंढ लिया तो फिर शान्ति आ जाएगी।

## भाव अविशुद्ध सुविशुद्ध जे....।

अशांति का कारण है, जो भाव जिस रूप में कहे गये हैं, उस रूप में समझ नहीं रहे हो। विपरीत रूप में समझने की स्थिति में बने हो। जब तक दृष्टिकोण विपरीत है तो शांति कहाँ मिलेगी ? बीज सारे अशांति के, बबूल के बोये और चांहते हो शान्ति और आम मिले। आम ऐसे ही नहीं मिल जायेगा। आम के बीज पहले डाले होते तो आम मिलता। बबूल के बोये हैं तो बबूल ही मिलेगा। अधिकांशतया हम अशांति के बीज ही मनोभूमि पर बिखेरते हैं, उसी को सिंचन देने की स्थिति बनाये रखते हैं, तो मिलेगा क्या ?

एक सम्राट ने अपने बगीचे में एक प्रकार के बीज बोये, पौधा लगाया और बाद में उस पौधे ने वृक्ष का रूप ले लिया। उसके अत्यन्त सुन्दर फूल देख सम्राट प्रमुदित हुआ और बहुत हर्ष मनाने लगा। इस प्रकार कुछ समय निकला तभी बाहर के व्यापारी आये और कहा- हमारे पास ऐसे-ऐसे बीज हैं, जो थोड़े खाद-पानी से पनप सकते हैं, लंबे समय तक सिंचन, खाद आदि की आवश्यकता नहीं रहती। सम्राट ने बीज ले लिये और बगीचे में बो दिये। थोड़े ही समय में पौधे लहलहाने लगे। देखकंर सम्राट बहुत खुश हुआ। घूमते हुए वह जब पुराने वृक्षों के पास पहुँचा तो देखा कि वह कुम्हला गये थे, फूल लग नहीं रहे थे और पत्ते भी गिनती के रह गये थे, अधिकतर झड़ चुके थे। कलियाँ भी गिनती की रह गई थीं। पेड़ की पहले वाली रौनक नहीं रही थी, वह सूख गया था। सम्राट परेशान हो गये। बात क्या है ? उन्होंने किसी तत्वज्ञ पुरुप जानकार व्यक्ति से पूछा। उसने बताया- "राजन् ! पहले आपने बगीचे में जो पेड़ लगाये थे। वे जातिवान थे, और बाद में जो बीज बिखेरे वे विषमय बीज थे। जो विषमय पौधे तैयार हुए वे जल्दी पनप गये और पहले के जातिवान वृक्षों पर उनकी छाया पड़ी। उस छाया के प्रभाव से पहले वाले

पेड़ कुम्हला गये। जमीन के भीतर की शक्ति, खाद-पानी की ताकत, सब जहरीले पेड़ खींच लेते हैं, उस जातिवान वृक्षों को खुराक प्राप्त हो नहीं पाती है। आप इस रूपक को समझ गये होंगे, मन रूप हमारी जमीन है। उस पर सद्संस्कार रूप बीज डालते हैं। साधु-संतों के निरन्तर सहयोग से पौधे लहलहाने लगाते हैं, किन्तु कभी-कभी हम ऐसे व्यक्तियों के सम्पर्क में आ जाते हैं, जो मन पर मनोभूमि पर बो देते हैं, राग-द्वेष, ईर्ष्या, दाह आदि के बीज। क्षमा, सरलता, सहजता आदि के पौधे विकसित होने में देर लगती है, किन्तु ईर्ष्या-द्वेष कषाय आदि के पौधे पनपने में ज्यादा समय नहीं लगता। वे तेजी से बढ़ते हैं और इस कारण सद्संस्कार रूपी पौधे कुम्हलाकर नष्ट होने लगते हैं। इसलिए हम मनोभूमि में कोई भी बीज डालने से पूर्व समझ लें कि बीज कैसा हो ? और उसकी परिणति-परिणमन क्या होगा ? हम परिणमन को नहीं देखते, हम सोचते हैं, जो मिल रहा है, डाल दो। यदि यही अवस्था रही तो सद्संस्कार रूपी पौधे अभी तो कुम्हलाये ही हैं, एक समय वह ठूंठ बनकर रह जायेंगे, पत्ते सड़ जाएंगे और टहनियाँ टूट गिरेंगी। यदि उन संस्कार रूपी पौधों को विकसित रखना है तो उसे उचित प्रकार की खाद देनी होगी। विषमय पौधों और बीजों से उसकी सुरक्षा करनी होगी। यदि सुरक्षा की तो जीवन में बहार आ जायेगी। यदि सुरक्षा नहीं की, विषमय पौधों को बढ़ावा देते रहे तो हालात संभाल नहीं पायेंगे। आप जानते होंगे बबूल, जंगली बबूल, कीकर आदि के बीज सड़क के किनारे भी डाल दिये जाये तो भी वे जल्दी पनप जाते हैं। थोड़े समय उधर आवागमन न हो, कच्चा रास्ता हो तो इतना फैलाव कर लेते हैं कि मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। वे जितनी जल्दी पनपते हैं, किन्तु आम उतनी जल्दी नहीं पनपता। आम में फल आने में पूरा 12 वर्ष का समय लगता है, किन्तु विषमय वृक्षों को फलने में देर नहीं लगती।

एक दृष्टांत सुनिये। चीनी दार्शनिक लाउत्से अपने शिष्यों को लेकर जंगल में आये है। बातें चल रही थी। वहाँ और भी लोग आये हुए थे, सब अपने-अपने काम में लगे हैं। उन्होंने देखा एक बहुत बड़ा हरा-भरा वृक्ष खड़ा है। लोग दूसरे-दूसरे वृक्षों की कटाई कर रहे हैं। पूछ

लिया- ''क्या कर रहे है ?'' बताया कि कटाई हो रही है। पूछा- ''दूसरे वृक्ष काटे जा रहे हैं, पर इस हरे-भरे वृक्ष को क्यों नहीं काटते ?'' उत्तर मिला- ''यह वृक्ष विषमय है। किसी काम का नहीं। इससे इमारती लकड़ी प्राप्त नहीं होती। बहुत जगह से टेढ़ा-मेढ़ा है, जलाने के काम भी नहीं आता। इससे जहरीला धुआँ निकलता है, जिससे आँखों में जलन होती है। यह किसी काम का नहीं है इसलिए इसे काट कर क्या करेंगे ?'' लाउत्से ने शिष्यों को बताया कि यह काम का नहीं है, क्योंकि इसमें टेढापन है और इसका धुँआ जहरीला होता है, इसलिए इसे कोई पसंद नहीं करता। ऊपर से यह हरा-भरा है, किन्तु ऊपर का हरापन थोड़ी देर भले विश्राम दे दे, पर इससे अधिक उसकी उपयोगिता कुछ नहीं। वैसे ही हमारा ऊपरी जीवन, पैसे-प्रतिष्ठा-पद के बल पर कितना ही हरा-भरा हो रहा हो, कितनी ही ऊपर की हरियाली उसमें हो, वह किसी काम की नहीं, यदि हमारे भीतर क्रोध, तृष्णा, हिंसा स्वार्थपरता आदि की भावनाएँ भरी हों। ये दुष्प्रभावित करने वाली प्रवृत्तियाँ होती है। जैसे पुलिस आततायियें को दूर करने के लिये अश्रु गैस छोड़ती है, जिससे लोगों की आँखों से आँसू बहने लग जाते हैं, वैसे ही अंदर की दुष्प्रवृत्तियाँ लोगों का अहित ही करती है। अतः बाह्य सम्पन्नता के आधार पर हम यह न सोच लें कि हमने बहुत विकास कर लिया है बहुत फैलाव कर लिया है, क्योंकि वैसा फैलाव कोई मायने नहीं रखता। हम प्रोजेक्टर की ओर, अंतर की ओर ध्यान दें। देखें कि कहीं अंतर की अवस्था जहरीली तो नहीं है। यदि है तो ऊपर का फैलाव थोड़ी देर की रौनक ही है।

आप जानते हैं कि कहीं विवाह-शादी हो तो धर्मशाला बुक कराते हैं तो दो-चार दिन तो खूब रौनक रहती है, पर चार दिन बाद उधर देखें तो कुत्ते भौंकते और कौए उड़ते दिखाई देते हैं। अवशिष्ट भोजन, पत्तल- दौनों का ढेर लगा होता है। चार-पाँच दिन बाद जब वे सड़ने लगते हैं तो वहाँ असहनीय दुर्गंध व्याप्त हो जाती है। जो खाना आप खा रहे थे, चार दिन बाद उसकी ऐसी हालत हो जाती है। क्या कारण है, कैसे हो गई ? यदि इन बातों को समझकर भी अपने अस्तित्व को न जानें, शांति के सोपान को न समझें तो क्या स्थिति बन सकती है, कल्पना

कीजिये। जो कुछ बाहर की रौनक-वैभव आज प्राप्त है, उसमें अंतराय कर्म का क्षयोपशम और पुण्य का योग है। यदि अंतराय के क्षयोपशम और पुण्य को न जानकर सही सदुपयोग नहीं किया तो जैसे पत्तल पर रहा खाद्यान्न सड़कर दुर्गंध फैलाने लगता है, वैसी ही हमारी दशा होने वाली है। जैसे ही ऊपर का फैलाव हटा, जैसे वह वृक्ष काम का नहीं रहा, उसे कहीं ले जाकर दफना देंगे, वैसा ही हमारे साथ भी होगा। इसलिये हमारी दृष्टि प्रोजेक्टर की ओर रहे कि ये सारे वहाँ से प्रोजेक्ट होते हैं। उसे देखने की क्षमता प्राप्त कर ली तो फिर आनंद का पार नहीं रहेगा। यदि दृष्टि बिन्दु पर केन्द्रित है, तो बाहर की अवस्था विचलित नहीं कर पाएगी।

भगवान महावीर के जीवन से ही जुड़ा हुआ एक प्रसंग है। बड़े भ्राता नंदीवर्धन का शोक तो वर्धमान के समझाने से दूर हो गया, पर वर्धमान के लिए नई समस्या खड़ी हो गई। वह यह कि वे कहने लगे- राज्याभिषेक की तैयारी करो, वर्धमान का राज्याभिषेक करना है। आज के भाई होते तो खुश हो जाते, पर वर्धमान हाथ जोड़कर विनम्र भाव से निवेदन करने लगे- पूज्यवर ! आप जो फरमा रहे हैं। यह आपकी महानता है, किन्तु आप मेरी प्रवृत्ति, स्वभाव जानते हैं। राज्य की सारी व्यवस्था ये मेरा विषय नहीं, इसमें मेरी रुचि नहीं है। मेरी रुचि धर्म भावना के प्रति है। मैं तो धर्म के लिए सोच रहा हूँ। सोच रहा था कि इतने समय तक माता-पिता के कारण संयम पथ स्वीकार नहीं कर पाया इसलिए अब शीघ्र ही उधर गतिशील होऊँ। और दूसरे शब्दों में कहूँ तो यह तो संभव ही नहीं कि मेरा राज्य-अभिषेक करें। राजकुल की परम्परा है कि जो बड़ा पुत्र होता है उसका ही अभिषेक होता है। उसमें योग्यता नहीं हो तो उस समय भले किसी का अभिषेक किया जाये जैसे प्रसेन्नजित सम्राट के अनेक पुत्र थे, किन्तु अनेक पुत्रों में से जब परीक्षा की गई तो जो उन्हें श्रेष्ठ लगा बिम्बसार, जिसका नाम श्रेणिक था। उनसे बड़े भी कई थे। पर योग्यता उनकी होने से उत्तराधिकारी श्रेणिक को बनाया था। किन्तु ऐसी कोई बात न हो तो राजा का बड़ा पुत्र ही राज्य का स्वामी बनता है। आप ज्येष्ठ पुत्र हैं, मेरे लिए पिता तुल्य हैं, इसलिये अभिषेक आपका ही होगा, मेरे मन में इसकी चाह नहीं है। यह उनकी

बिन्दु पर दृष्टि केन्द्रित का ज्वलन्त प्रसंग है। उन्होंने अपनी स्थिति स्पष्ट कर देना उचित समझ बात आगे बढ़ाई।

भैया ! मैं निर्ग्रन्थ प्रवज्या ग्रहण करूं ऐसी मेरी चाह है। जैसे ही वर्धमान के मुँह से ये शब्द निकले, नंदीवर्धन को एक झटका लगा कि यह क्या है ? ये बात कहाँ से आ गई। अभी तो मैं माता-पिता के शोक से भी स्वयं को पूर्ण स्वस्थ नहीं कर पाया हूँ। ऐसे में ये अनहोनी बात सहन नहीं होगी। इतना भारी वज्रपात सहना, मेरे सामर्थ्य के बाहर है। ये मन में जम नहीं पाएगा। मैं अनुमति नहीं दे सकता। मैं मानता हूँ तुम्हारा संसार में मन नहीं लगता, किन्तु मैं भी तो कुछ होता हूँ। बोलते-बोलते नंदीवर्धन का गला अवरुद्ध हो गया, भर गया। रुधे कंठ से बोले- वर्धमान ! जिनकी दृष्टि कारण पर केन्द्रित थी, वे अशांति के कारण को भी जान रहे थे। मोह के कारण का भी अनुभव कर रहे थे। उन्होंने बड़े भ्राता के मोह को दूर हटाने की दृष्टि से उनको निवेदन किया-महाभाग ! मोह ममता नहीं बढाना, ये सारा का सारा विस्तार, मोह का विस्तार है। आप कहते हैं मैं संभाल नहीं पाऊँगा, यह मोह का आवरण है। मोह आवरण के कारण व्यक्ति अपनी शक्ति की पहचान नहीं कर पाता। यह तो एक प्रसंग है। ऐसे अनेक अवसरों पर हम यदि विचार करें तो स्पष्ट ज्ञात हो सकता है कि वर्धमान की दृष्टि अन्तर्मुखी थी। अन्तर तक पैठ गई थी। वे केवल घटना को नहीं अपितु उसके अन्तर्हृदय को जानने में सक्षम थे। उन्होंने इसीलिए मोह के विस्तार को दूर करने की बात कही।

हमें भी बाहरी संपत्ति के फैलाव में लगकर नहीं रह जाना चाहिये। इससे जहरीला धुँआ निकलेगा, जो जिन्दगी बर्बाद करेगा। परन्तु यदि जीवन के इन क्षणों का सदुपयोग कर लिया तो भले इस भव में मुक्ति नहीं मिले, आने वाला भव उस दिशा में आगे जरूर बढ़ा देगा। इसलिए ज्ञानी कहते हैं- मोह-ममता मत बढ़ाओ, उन पर विजय प्राप्त करो। मोह दुःख की परम्परा बढ़ाने वाला होता है। यदि मोह को प्रोजेक्टर में भर लिया तो पर्दे पर मोह की फिल्म ही आएगी। तुम वियोग में दुःखी हो रहे हो, पर सोचो वियोग दुःख कब देता है ? संयोग में सुख मानते हैं, तब वियोग दुःख देता है। हमने संयोग में सुख मान लिया है- बेटा, पोता, पड़पोता होता है तो खुशियाँ मनाते हैं। संयोग का प्रभाव हृदय पर

पड़ने देते हैं, तो वियोग का भी प्रभाव हृदय पर पड़ता है। अतः योग-वियोग में सोच लेना चाहिये कि ये तो केवल तरंगें हैं। तंरगें समुद्र नहीं होतीं। वे भिन्न हैं, समुद्र भिन्न हैं। संयोग-वियोग जीवन के बदलते रूप हैं। हम प्रतिपल संयोग-वियोग में जीते हैं। हम यह भली प्रकार समझ लें कि आज का संयोग हमें सुखी नहीं बना पायेगा। बीते हुए कल का वियोग क्या हमें दुःख देगा ? कल का दिन कल के लिए संयोग था, पर आज वियोग हो गया। घड़ी के काँटे बढ़े कि आज का दिन भी वियोग हो जावेगा। हम इन बीते हुए दिनों को लेकर रोते नहीं रहेंगे, इन्हें हम पकड़ कर रखते नहीं है। भगवान ने कहा है-

**जा जा वच्चइ रयणी, न सा पडिनियतई.....।**

जो है उसे सुधारने का प्रयत्न करो। जो रात-दिन बीते हैं उनसे सुख-दुःख नहीं होता। वैसे ही हम इन भावों को अपने से जोड़ें नहीं तो सुख-दुःख नहीं होगा। यदि जोड़ लिया तो वही सुख-दुःख देने वाला बन जायेगा। यदि कल के दिन या आज के दिन कोई घटना हो जाय, संपत्ति का लाभ हो जाये, तो हर्ष मनाएंगे, कहीं बेटे का जन्म हो तो खुशियाँ मनाएंगे। यदि जन्म में खुशियाँ मनाई, तो मृत्यु पर गम भी होगा। यदि जन्मोत्सव में खुशियाँ नहीं है, तो मरण का गम भी नहीं सताएगा। अतः निर्विकार रहें।

ऐसी निर्विकार अवस्था हमें कभी भी अशांत नहीं होने देगी। पर यदि अशांति के बीज डालेंगे, तो संयोग-वियोग से सुख-दुःख होगा। यह अवितथ रूप से जान लें ताकि अशांति सताए नहीं। तब शांति के इस सोपान को हम जानें। शांति की चाह करने के बजाय जो भाव जिस रूप में हैं उन्हें उसी रूप में अवितथ रूप से जानने एवं समझने का प्रयास करेंगे और उनका विश्वास अन्तरमन तक पैठ जायेगा, तो निश्चित रूप से हम शांति के सोपान पर अपने को आरूढ पायेंगे।

12.10.2000

❖ ❖ ❖

# 16. एगओ चर

शांति और अशांति दोनों हमारे अंदर ही होती हैं। दृष्टिकोण उन्हें प्रभावी बनाता है। यदि दृष्टिकोण बदला जाये, तो अशांति के वातावरण में भी व्यक्ति शांत-प्रशांत रह सकता है। दृष्टिकोण यदि नहीं बदले तो बहुत कुछ शांति के बावजूद भी व्यक्ति अशांत अनुभव कर सकता है। भूल है दृष्टि का परिवर्तन, दृष्टि का बदलना। आचारांग सूत्र में कहा है-

**सम्मतदंसी न करेइ पावं।**

सम्यक्दृष्टि पाप कर्म नहीं करता। सम्यक्दृष्टि भी संसार में रह रहा है, परिवार के बीच रह रहा है फिर भी उसके पाप नहीं करने का कथन है। ऐसा मूल में दृष्टिकोण की विशिष्टता के कारण ही है। यदि दृष्टिकोण का परिवर्तन हो जाये, तो जिस संसार में जीव संलिप्त रहा है, जिसमें उसे रस आ रहा है, उसी संसार में उसे लगने लगेगा कि क्या धरा है इस संसार में, सारा निस्सार है ! इसमें कोई सार वस्तु नहीं है। अब तक मैं भ्रमित था, भूला हुआ था। अब इसके प्रति मेरे दृष्टिकोण में परिवर्तन होना चाहिये।

एक व्यक्ति साधु बन जाता है, वर्षों तक संयमी जीवन की आराधना कर लेता है, किन्तु पालन करते-करते दृष्टिकोण में परिवर्तन आ जाये कि क्या पड़ा है साधु जीवन में ? इतने वर्षों तक जी लिया, पर क्या मिला ? ऐसे विचार आने लगें, ऐसा दृष्टिकोण बन जाये, तो फिर वैसी ही स्थितियाँ जुड़ती चली जायेंगी। पूरी मानसिकता ही बदल जायेगी। सोचने लगेगा- क्या पड़ा है ? क्यों समय बर्बाद किया जाये ? सुना था कि साधु जीवन स्वर्ग है, साधु जीवन में आनंद है, पर क्या आनंद है ? गोचरी जाओ, पानी लाओ, पाँच व्यक्तियों के बीच में हैं, किसी ने कुछ कह दिया तो फिर बोलना नहीं, ये रोज-रोज का झंझट! किसने देखा

स्वर्ग है या नरक है ? आज तक तो स्वर्ग का आनंद देखा नहीं। कहते हैं एक वर्ष तक संयम का पालन कर ले तो उसका सुख अनुत्तर विमान के सुख का उल्लंघन कर जाता है। यदि यही अनुत्तर विमान का सुख है तो मोक्ष का सुख भी ऐसा ही होगा। इस प्रकार दृष्टि के परिवर्तन से शांति के क्षेत्र में भी वह अशांत हो जायेगा। परन्तु यदि दृष्टि विपरीत हो तो भले बाहर कोलाहल हो रहा हो, भीतर व्यक्ति अकेला हो सकता है।

भगवान महावीर ने कहा है-

**एगओ चर।**

ज्यादा भीड़ में रहने से भीड़ परेशान करेगी, थकायेगी। कभी भी देख लो भीड़ जितनी होती है, थकान भी उतनी ही आती है। विवाह का प्रसंग हो या बाहर से आने वाले मेहमानों का हो, दो दिन व्यस्त रहते हैं, मालूम ही नहीं पड़ता कि दिन कैसे निकल गये ? किन्तु जैसे ही फंक्शन समाप्त हुआ, इतनी थकान लगती है कि पूछो मत। कभी महसूस किया आपने क्यों लगती है थकान ? इसलिये कि भीड़ में मन उस ओर लगा था। मन में विचार आया ही नहीं कि आराम करें। जोश में काम करते रहे। जैसे ही भीड़ समाप्त हुई और प्रतिदिन के व्यवहार में आये, तो सूनापन-थकान लगने लगी।

जैसे बाहर की भीड़ थकान देती है, वैसे ही अंदर की भीड़ अर्थात् विचारों की भीड़ भी मन को थकाती रहती है। विचारों की पटरियों पर मन खूब दौड़ता है। इतना दौड़ता है, इतना दौड़ता है कि दौड़ते-दौड़ते थक जाये। वही विचारों की भीड़ कम पड़े तो थकान लगेगी। पर यह बात तब समझ में आयेगी, जब हम भावों को अवितथ रूप से जान लेंगे व वैसी ही हमारी श्रद्धान् होगी। इसी बात को कविता में कहा है-

***भाव अविशुद्ध सुविशुद्ध जे....।***

जो स्वरूप कहा गया है, उसे अवितथ रूप से श्रद्धे क्योंकि अभी तक हमारा दृष्टिकोण भिन्न बना हुआ था। दृष्टिकोण का परिवर्तन नहीं हुआ था। एक गुब्बारा बेचने वाला गुब्बारा फूलाकर बेचता है, जब तक

बच्चे खड़े रहते हैं और खरीदते रहते हैं। पर जब कभी उसे लगता है कि गुब्बारों की बिक्री कम पड़ गई है तो एकाध गुब्बारे में हवा भरकर उड़ा देता है। जिसे देख बच्चे मचलते हैं और आकर खरीदने लग जाते हैं। ऐसा करके वह बिक्री बढ़ाता है। व्यापारी नई-नई तकनीकें खोजता है ताकि ग्राहक बने रहें, व्यापार चलता रहे। गुब्बारे वाला भी व्यापारी है, जो बिक्री बढ़ाने के तरीके की खोज करता रहता है।

एक बार एक गुब्बारे बेचने वाला जा रहा था। देखा कि पीछे से कोई कपड़े खींच रहा है। उसने मुड़कर पूछा- "क्या बात है ?" एक बच्चा था, उसने पूछा- "अंकल ! क्या यह काले रंग का भी आकाश में उड़ जाता है ?" बच्चे के प्रश्न पर उसने उत्तर दिया- "काला हो या नीला, लाल हो या पीला आकाश में उड़ने में रंग बाधक नहीं है। देखना यह होता है कि उसके अंदर हवा है या नहीं। यदि हवा अंदर भर दी है तो आकाश में उड़ेगा। गुब्बारे वाले ने तो समझाने के लिए कह दिया पर हमें समझ में आ रहा है या नहीं ? हमें शांति प्राप्त करनी है तो देखो चित्त की समाधि, देखो स्थिरता कैसी है ? अंदर विचारों की भीड़ तो नहीं है। जो तत्त्व श्रद्धान कर रहे हैं, वह अवितथ तो है। कहीं विपरीत श्रद्धान् करके तो नहीं चल रहे हैं ? यदि श्रद्धान् विपरीत है तो शांति मिले, यह संभव नहीं है। इसे ही प्रथम सोपान कहा है- "अवितथ सद्दहे।"

किस रूप में श्रद्धान हो ? एक पिता रोकड़ बही में जो कुछ लिखकर जाता है, यदि संतान उस पर विश्वास कर ले तो रोकड़ के अनुसार वह प्राप्त भी कर सकती है। पिता लिख दे कि अमुक-अमुक जगह इतनी संपत्ति रखी है, पर वह प्राप्त कब करेगा ? जब पिता पर विश्वास हो। यदि विश्वास न हो कि ऐसे ही लिख दिया होगा, उनका माथा ठीक थोड़ी था तब ? पर संपत्ति के मामले में आप गड़बड़ नहीं करते हो। यदि किसी के लिए झूठ भी लिख दिया कि अमुक सेठ से 10 लाख बाकी हैं, तो वहाँ भी पहुँच जाएंगे। निकाल पैसे ! जीते जी पिता पर विश्वास था या नहीं पर वहाँ विश्वास हो जाता है।

जोधपुर नरेश पुराने कागजात देख रहे थे। बीच में एक कागज

हाथ में आ गया। लिखा था- 'खाटू और मकराने के बीच खजाना गड़ा है।' कितनी दूरी है दोनों के बीच ? कहते हैं 30-40 किमी. का अंतराल होगा। कहाँ खुदाई की जाये ? यदि किसी को मालूम पड़ जाये कि यहाँ खजाना है इसलिए खुदाई हो रही है, तो कईयों की दृष्टि लग जाएगी। वे समझ नहीं पा रहे थे। दीवान के सामने पत्र प्रस्तुत कर दिया। दीवान ने कहा- "हुजूर ! यह संकेत लिपि है, इसे समझने वाला ही समझ सकता है।" डॉक्टर के पास मरीज पहुँचे कि मेरे सीने में दर्द है। क्या करेगा डॉक्टर ? मशीन लगाकर, बटन दबाएगा और ईसीजी करेगा। ईसीजी की पट्टी वह आपके हाथों में सौंप दे। देख लोगे कहाँ खराबी है ? बता पाओगे ? वह हमारा विषय नहीं है। किन्तु लाइनों के आधार पर डॉक्टर जान लेते हैं कि हृदयगति क्या कह रही है ? सही है या नहीं ? कहीं अवरोध तो नहीं है ? वे लाइनें या संकेत हृदय की गति का निर्धारण कर देते हैं, किन्तु हर डॉक्टर उन्हें नहीं जान पाता। जो कार्डियोलोजिस्ट होता है, वही पक्की रिपोर्ट देता है। थोड़ी बहुत बात दूसरे भी बता सकते हैं किन्तु जो कार्डियोलोजिस्ट कहता है वही बात मान्य होती है।

दीवान ने कहा, "मेरे जामाता बीकानेर के दीवान हैं। वे संकेत लिपि पढ़ने में माहिर है। उन्हें बुलायें तो खजाने के रहस्य का ज्ञान प्राप्त कर पाएंगे।" देर कहाँ थी, लवाजमा पहुँचा बीकानेर के दीवान को लाने। बैद परिवार से संबंधित थे वे दीवान। राजाओं का इतिहास उठाकर देखें। राजाओं के संचालक पदों पर जैन होते थे। ओसवाल हो पर बणिक हो। एक कहावत है- 'आगम बुद्धि बाणियो'। वह आगे की देख लेता है। बात को फिट कैसे करना, यह वह जानता है। अमेरिका भले नाम कमा ले, पर भारतीय वैज्ञानिक अमेरिका नहीं पहुँचते तो क्या अमेरिका का इतना नाम होता ? आज भी कहा जाता है कि अमेरिका ने कम्प्यूटर सीखे व्यक्तियों के लिए लगभग डेढ़ लाख व्यक्तियों को स्थान देने का निर्णय किया है। व्यापारी की बुद्धि व भारतीयों की बुद्धि की पूरे विश्व में धाक है। सर्वे कर लें तो बड़ी से बड़ी पोस्ट पर कोई मिलेगा तो भारतीय मूल का। उसका कारण है भारतीयों की बुद्धि। राजाओं के रजवाड़ों में भी बणिक ऊँचे पदों पर रहते रहे हैं।

उन दीवान को लेने पहुँचे तो वे जोधपुर आये। उनकी खूब खातिर की गई। उसके पश्चात् दीवानजी ने महाराज से कहा- "आपने मुझे याद फरमाया है। मेरे लायक सेवा ?" उन्हें वह कागज दिखाया गया और कहा गया कि इसमें लिखा है- "खाटू व मकराने के बीच खजाना गड़ा है, उसे आवश्यकता पड़ने पर काम में लिया जा सकता है।" हम इसका अर्थ जानना चाहते हैं। दीवानजी ने वह कागज लिया, पढ़ा और चिन्तन में मग्न हो गये। फिर थोड़ी देर बाद कहा कि मैं पूरे राजमहल में घूमना चाहता हूँ। जसवन्त सिंह सोचने लगे कि ये मकराना-खाटू की बात है, ये राजमहल में क्यों घूमना चाहते हैं ? पर देखें, क्या होता है ? कहा- चलिये। घूमते हुए दीवानजी एक स्थान पर पहुँचे और कहा- "यहाँ गड़ा है खज़ाना खुदाई करा लीजिये।" महाराज ने आश्चर्य से कहा- "यहाँ कहाँ आ गया ?" पर वे कह रहे थे तो खुदाई की गई। खुदाई में खजाना निकल गया। महाराज जसवन्तसिंह ने पूछा- "आपने जाना कैसे ?" उन्होंने उत्तर दिया- "यह सामान्य सी बात थी। खाटू का पत्थर काला है, मकराने का सफेद। तो बात स्पष्ट है कि सफेद-काले पत्थर के बीच गड़ा है। वहाँ एक सिंहासन था, जिसका एक हत्था काला था, एक सफेद। आपके पूर्वज चतुर थे। संकेत लिपि में अंकित किया ताकि समझने वाला समझ ले, ना समझे तो पड़ा रह जायेगा।" उन्हें सत्कार के साथ विदाई दी गई। यह आख्यान एक सत्य घटना है।

हमें भी तीर्थंकर देवों ने जो खजाना दिया है- अंग गणिपिटक मौजूद हैं। लोग कहते हैं प्राकृत में है, कैसे पढ़ें ? भाषा प्राकृत हो, हिन्दी हो या कोई और हो पर पढ़ लेने से अर्थ सिद्ध हो जाये, यह जरूरी नहीं है। यदि दृष्टिकोण सही नहीं है तो अभवी कहाँ तक पढ़ लेता है ? 9वें पूर्व की तीसरी आचार वस्तु, पर क्या गरज सरती है ? दूसरी ओर पाँच समिति, तीन गुप्ति का पालन करने वाला मुक्ति जल्दी प्राप्त कर लेता है। देखने की बात है पूर्व से अधिक का ज्ञान करने वाला होकर भी संसार में पड़ा रह जाता है। मूल कारण है- दृष्टिकोण का परिवर्तन नहीं होना। वह संसार के सुखों में आसक्त है, अभवी का दृष्टिकोण संसार के सुख पाने का है। शास्त्र पढ़ लिये, किन्तु पढ़कर जो निष्कर्ष निकालना था वह

निकाल नहीं पाया। आज कम्प्यूटर या टेप में शास्त्र भर दिया जाता है। टेप चालू करके प्रतिक्रमण होने लगे हैं। टेप से प्रतिक्रमण हो जाये तो फिर याद करना ही क्यों ? हम कितना सुख पराश्रित होने में पा रहे हैं ! मस्तिष्क को तकलीफ देना ही नहीं चाहते। ऐसे में शांति के सोपान पर आरूढ़ हो नहीं पाएंगे। परिवार में व्यक्ति रहता है, वहाँ तूं-तूं, मैं-मैं होती है। उसके पीछे भी मूल कारण व्यक्ति का नजरिया ही है। यदि व्यक्ति दृष्टिकोण को सही कर ले तो कहीं कोई झंझट नहीं, नहीं तो मुश्किल काम है परिवार में शान्ति प्राप्त करना।

बहुत पहले की बात है। चीन में एक परिवार था, जहाँ 500 सदस्यों का खाना एक साथ बनता था। सब घर में रहते थे। ऐसे तो परिवार आज भी हैं, जहाँ 50 का भोजन एक चौके में बनता है। यह तो पुण्यवानी का योग है, नहीं तो 5 का भोजन भी एक चौके में बनना कठिन है। भाई चार हैं तो चौके पाँच। एक माता-पिता का, चार पुत्रों के और कहीं 6, पति-पत्नी भी अलग-अलग। हालांकि ऐसे परिवार अंगुली पर गिनने जितने ही होंगे। अधिकांशतया आज 'हम दो, हमारे दो' इस प्रकार चार-पाँच में सीमित हो रहे हैं। आज महिलाएँ भी लंबे समय तक कार्य कर नहीं पातीं। देख लीजिये, आज से 50-60 वर्ष पहले की महिला, जो 4 बजे उठकर काम में लग जाती थी। चौका चूल्हा, झाड़ू-बुहारी, पानी भरना और सारे काम हाथ से करती थी। आज हर कार्य के लिए नौकर चाहिये। कौनसा काम बाकी रह पाया है ? पर क्या काम करने से थकान आती है ? दृष्टिकोण का अंतर है। व्यक्ति सोचता है काम करूँगा तो थक जाऊँगा। काम से थकान नहीं आती है। धायमातृ श्री इन्दरचन्दजी म.सा. कई संतों का कार्य अकेले करते नहीं थकते थे। पद्ममुनिजी ने दीक्षा ली तो कहा कि अब काम बंद कर दो, आपने बहुत सेवा कर ली। उन्होंने कहा- हाथ चल रहे हैं तभी तक ठीक है, नहीं तो शरीर बैरी बन जायेगा। वस्तुतः ऐसा ही होता है। काम करते रहते हैं तो खून का सर्कुलेशन बराबर चलता रहता है। इसी प्रकार जब तक परिवर्तन नहीं होता, तब तक हम एक दिशा में सही तरीके से बढ़ नहीं पाते हैं।

आज व्यक्ति समय की पहचान नहीं कर पाता इसलिए बहुत-सा

समय बर्बाद कर देता है। ये कमी भारतीयों में है। वे समय की नब्ज पहचान नहीं पाते हैं। एक तरफ शोरगुल हो रहा है कि भारत गरीब देश है। आज भी अधिसंख्यक जनता गरीबी-रेखा के नीचे जीवनयापन कर रही है। फिर भी सप्ताह में एक दिन नहीं, दो दिन छुट्टी चाहिये। 6 घंटे से अधिक काम नहीं करेंगे। 6 घंटे श्रम और 18 घंटे विश्राम। ऐसी जिसकी मानसिकता है, वह क्या समय की पहचान करेगा ? बड़े-बड़े व्यक्तियों को देखिये, जो 10-18, 20 घंटे श्रम करते हैं और मात्र 4-6 घंटे शयन करते हैं। उन्हें 18 घंटे श्रम करने के बाद भी थकान नहीं आती। आचार्य भगवन् फरमाया करते थे कि पढ़ते-पढ़ते थकान आ जाये या स्वाध्याय करते-करते नींद आने लगे, तो स्वाध्याय की पुस्तक रख, थोकड़े की पुस्तक ले लीजिये। थोकड़ों को लिया तो लगेगा थकान नहीं आ रही है। इस प्रकार आप स्वयं को एकदम डायवर्ट कर लेते हैं। जब थोकड़े करते-करते रुचि कम हो ज़ाये, तो उसे रख दो, चारित्र भाग ले लो। चरितानुयोग में लग जाओ। फिर से रुचि जागृत हो जायेगी। विषय परिवर्तन से थकान दूर हो जाती है। आज ही सुना है कि जापान-जर्मन के व्यक्तियों ने अमेरिका में एक कंपनी खोली। वह कंपनी कई देशों में काम कर रही है। उन्होंने सोचा कि सप्ताह में एक दिन छुट्टी होती है, इसलिए एक दिन हाफ-डे छुट्टी और कर दी जाये। इस पर वहाँ के वर्कर्स कहने लगे कि ये नहीं होना चाहिये, हम एक दिन निठल्ले रहेंगे तो हमारी कार्यक्षमता मंद हो जायेगी। हम चाहते हैं कि रविवार को भी छुट्टी न हो। हम प्रतिदिन काम करना चाहते हैं। एक दिन की छुट्टी हुई तो फिर भी मान ली, पर अब हाफ-डे की छुट्टी किसी हालत में मानने को तैयार नहीं है। यहाँ तो दो दिन के अलावा तीन दिन हो जाये तो आनंद मनाएंगे कि तीन दिन की छुट्टी मिल गई। पर उन्हें समय की पहचान है इसलिये देखिये दूसरे विश्व युद्ध में जर्मन की क्या हालत हुई थी, पर परिश्रमी व्यक्तियों ने किस प्रकार पुनः विकास कर लिया। भारत के पास प्रचुर साधन होते हुए भी आज भारत का व्यक्ति 6-6 घंटे ही ड्यूटी करना चाहता है। 6 घंटे में भी 4-5 घंटे की ड्यूटी के और शेष समय खाने-पीने, गपशप और मनोरंजन जैसी गतिविधियों में लगा रहा है। तो

ऐसा देश कब विकास की राह पकड़ेगा ? वह विकासशील या विकासोन्मुख भले बना रहे। पर अपेक्षित विकास प्राप्त नहीं कर पाएगा। विकास पाना है तो पूरी दृढ़ता से समय का सदुपयोग करते हुए, लक्ष्य को ध्यान में रखकर चलना है फिर देखिये, कैसा आनंद आता है। किन्तु लोगों को गपशप में जितना आनंद आता है, उतना काम में नहीं आता।

यह बात हुई जीवन की भाग-दौड़ से संबंधित कार्यों की, परन्तु ऐसी ही प्रवृत्ति धर्माराधना और जीवन-संस्कार के क्षेत्रों में भी दिखाई देती है। यदि भौतिकतावादी दृष्टिकोण में परिवर्तन नहीं किया जाता है, तो इन क्षेत्रों में ही सबसे बड़ी हानि होती है, क्योंकि इनका संबंध आत्मा के उद्धार से होता है। दृष्टि बदलने के कारण ही सम्यग्दृष्टि के लिए कहा गया कि वह पाप नहीं करता। वस्तुतः इस संदर्भ को जानने की आवश्यकता है। इसके लिए भी हमें अपनी मानसिकता तैयार करनी होगी। साथ ही अपने अन्तर की भीड़ को कम करके 'एगओ चर' की शिक्षा को आत्मसात करके चलेंगे, तो आत्मशान्ति के सोपानों पर आरोहण करते हुए मंजिल की ओर अग्रसर बने रहेंगे।

13.10.2000

# 17. सम्पूर्ण शांति का सत्य

शांति की अवस्था भिन्न-भिन्न रूपों में व्यक्ति अनुभव करता है, पर यथार्थ में शांति का स्वरूप भिन्न नहीं है। सबकी शांति एक समान है, चाहे वह आपकी हो, चाहे हमारी हो, देवों की हो या नैरयिकों की हो। सबके भीतर रहने वाली शांति का स्वरूप एक है। हम भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में इसका जो बोध करते हैं वह भिन्न का बोध एक प्रकार से भ्रम का रूप है। हम थोड़ी-थोड़ी देर के लिए भिन्न रूप में शांति का अनुभव करते हैं, इसलिए शांति को टुकड़ों में विभक्त कर दिया जाता है, पर यथार्थ में सबकी शांति का रूप एक समान है।

महात्मा बुद्ध चले गये थे। एक दिन की संतान, राहुल का जन्म हुआ ही था। निकल गये, किसी से कुछ कहा नहीं। 12 वर्ष भ्रमण करते रहे। 12 वर्ष बाद यशोधरा के पास पहुँचे। जैसे ही यशोधरा ने उन्हें भिक्षु के रूप में देखा, वह चौंक गई। इस यशोधरा ने गौतम के रूप में रहे राजकुमार को देखा था। तब वह प्रमुदित होती थी, मन में अनेक भाव संजोती थी, किन्तु आज जब सहसा महात्मा बुद्ध के रूप में उन्हें देखा तो मन में वितृष्णा के भाव उत्पन्न हो गये, आक्रोश भी जागृत हुआ। भाषा में तीखापन आ गया। तीर के समान चुभने वाले व्यंग्य वचनों की बौछार करते हुए अपने पुत्र राहुल से उसने कहा- ''यही हैं तुम्हारे वह पिता, जो मुझे सोयी हुई छोड़कर चले गये थे। भागकर चले गये थे। यही तुम्हारे पिता हैं, जो संसार से भागे थे। आज बहुत सारी संपत्ति कमाकर लाये हैं, तुम्हें देने के लिए। देख लो अपने पिता को, जिनके हाथ में कमण्डल है। हाँ, हाँ, यही तुम्हारे पिता हैं।

सुनने वाले दंग रह गये। उन्हें आश्चर्य हो रहा था कि ऐसे व्यंग्य वचन गौतम, महात्मा बुद्ध को सुनाये जा रहे थे।

बुद्ध कहने लगे- "राहुल ! मैं ही तुम्हारा पिता हूँ। जैसा कि तुम्हारी माँ ने कहा है, मैं तुम्हें कुछ देने आया हूँ। 12 वर्ष में जो पूंजी कमायी है, उसमें से बेटा राहुल ! यदि कुछ लेना चाह रहे हो तो फैलाओ हाथ, मैं देने को तैयार हूँ।"

यशोधरा ने व्यंग्यपूर्वक उत्तर दिया- "पड़ा क्या है देने को, हाथ में कमण्डल हैं। देने की स्थिति होती तो भागे क्यों ? भागने वाला दे क्या सकता है ?

बंधुओं, व्यक्तियों के दृष्टिकोण जुदे-जुदे होते हैं। उसी के कारण अशांति में शांति का आभास करते हैं। बुद्ध ने निर्विकार भाव से कहा- "लेना चाहता है मेरी निधि, तो फैला हाथ।" राहुल ने हाथ फैलाया तो बुद्ध ने कमण्डल पकड़ा दिया और कहा- "आज से तू दीक्षित हो गया। जिसे ढूंढने में मुझे 12 वर्ष लगे, जिसे ढूंढने गिरि, कंदराओं, पहाड़ों में गया, मैं नहीं चाहता कि उसे ढूंढने के लिये तू भी भटके। मैं तुझे वह सहज उपलब्ध करा रहा हूँ। मैंने दीक्षित किया, कमण्डल दिया, यही मेरी निधि है। कमण्डलधारी, कोई निधि दे कैसे सकता है ? चलो मेरे साथ।"

यशोधरा कहने लगी- "ये क्या कर रहे हैं ? ले दे के यही तो बचा था, जिससे दिन काट रही थी। इसीलिये पहुँचे हो कि यशोधरा और पीड़ित हो ?" किन्तु राहुल ने कहा- "मैं दीक्षित हो चुका हूँ। अब यही मेरा पथ है। अब महल मेरा निवास नहीं है। ये राजसी पोशाक, ये शृंगार मेरा असली स्वरूप नहीं है। मुझे वही स्वरूप पाना है, जिसकी खोज में मेरे पिता निकले थे।

यशोधरा देखती रह गई। उसने सोचा था कि मैं उन्हें सुनाकर बता दूंगी कि उन्होंने अपराध किया था, भूल की थी, पर हो उल्टा गया था। बुद्ध ने आगे कहा- "राहुल ही नहीं, जो भी चलना चाहे, मैं उसे ले जाने के लिये तैयार हूँ। किसी को बढ़ना हो तो वह निधि सामने तैयार है।"

बंधुओं ! ये एक घटना है, जिसमें एक संदेश निहित है। कहाँ राहुल 12 वर्ष का और कहाँ दीक्षा ? परन्तु एक झटका लगा, कुछ सोचा भी नहीं और हो गया दीक्षित। क्यों सोचता ? वहाँ विश्वास था और वहाँ

श्रद्धा थी। ऐसी यदि आस्था बन जाये तो देखिये नौका पार होने में देर नहीं लगती।

हम भजन में उच्चारण करते हैं- "भवसागर से नैया मेरी पार करो", किन्तु जिनसे पार कराने के लिये कह रहे हैं 'पतवार' उन्हें सौंपी या नहीं ? सौंपने में हिचक तो नहीं हो रही है कि कहीं ये पतवार लेकर चले गये, तो मैं बीच समुद्र में रह जाऊँगा, पतवार विहीन। ऐसा हो भी तो आश्चर्य कैसा ? आज नीतियाँ ही ऐसी चल रही है कि भंवर में नौका पहुँची और खिवैया रवाना। बीच जंगल में गाड़ी खड़ी कर दे और कहे कि पैसे निकालो तो आगे ले जाऊँगा। ये न समझें कि ऐसी घटनाएँ नहीं घटती हैं। किराये की गाड़ी चलाने वाले ऐसा करें तो बड़ी बात नहीं, पर डॉक्टर करे; जब ऑपरेशन थियेटर में मरीज ऑपरेशन टेबल पर पड़ा हो, तब कहे- "ये-ये दवाईयाँ और ये-ये चार्ज।" क्या करे तब परिवार वाले ? चार्ज चाहिये तुरंत।

एक संत का ऑपरेशन करना था तब कहा- चार बोतल खून। मैं भी हॉस्पिटल में था। हमें किसी ने बतलाया कि दो ही बोतल लगीं। मैंने जिज्ञासावश पूछ लिया कि 2 लगी या चार ? उन्होंने कहा ये मत पूछिये। हालांकि लगीं या नहीं लगीं, मैं नहीं कह सकता। पर ऐसी स्थितियाँ भी बनती हैं। वैसे ही जीवन संग्राम में, जिन्दगी के ललित क्षणों में व्यक्ति सोचता है- मैं जिसे पतवार सौंपूं वह बीच भंवर में पतवार ले जाये तो क्या दशा होगी ? ऐसी सोच भी होती है कि पतवार नहीं सौंपेगे तो नाव बढ़ेगी कैसे, पार होगी कैसे ? पर कहीं न कहीं हमें आस्था करनी होती है। आस्था नहीं हो तो गाड़ी पार लग पाये यह भी संभव नहीं है। राहुल ने विश्वास किया। माता ने रोकने के लिए कुछ भी कहा हो, उसे विश्वास था कि पिता ने जो निधि दी थी, उसकी तुलना बाहर की निधि से हो नहीं सकती।

इसीलिए साधु जीवन को निरूपम कहा है। अर्थात् साधु की उपमा नहीं होती, हालांकि उपमा के प्रयास हुए हैं। साधु को 84 उपमाओं से उपमित भी किया गया है, पर वे एक-देशीय हैं अर्थात् उनमें एक गुण

का समावेश है। इस प्रकार उस एक गुण की तुलना से ही उसे उपमित किया गया है। किन्तु साधु का जो सर्वांगीण जीवन होता है वह अहिंसा-संयम के प्रति समर्पित होता है, वैसा ही होना चाहिये। अहिंसा-संयम से बचकर चलता रहे तो गाड़ी पार होने में कठिनाई होगी।

भगवान महावीर का जीवन हमारे सामने है। भाई के आग्रह से कुछ समय के लिए घर में रुक गये। पर उस समय वे कठोर नियम लेकर चल रहे थे। त्यागों को लेने के बाद वे किस गुणस्थान में रहे, तो कहा जा सकता है- चौथे में। आज तो आप कह दोगे कि किसी ने कोई एक सामायिक या उपवास कर लिया तो वह श्रावक पाँचवे गुणस्थान में पहुँच जायेगा। श्रेणिक के लिए कहते हैं कि नवकारसी कर ले तो नरक टल जाये, क्योंकि वह अव्रत में रहने वाला था। उसके अप्रत्यानावरण का उदय था। तो क्या एक उपवास से पाँचवां गुणस्थान आ जाता है। यदि आ जाता है तो भगवान महावीर को क्यों नहीं आया ? उन्होंने तो जावज्जीवन ब्रह्मचर्य व्रत स्वीकार किया था ? स्वदार संतोष, परदार विवर्जन रूप तो पहले ही था, व्रत स्वीकार नहीं किया था, किन्तु आराधना-पालना के रूप में था। अब जीवनपर्यन्त के लिए ब्रह्मचर्य स्वीकार कर लिया था। ऐसी स्थिति में वे पाँचवे में क्यों नहीं आये ? इसलिए नहीं क्योंकि कहते हैं कि तीर्थंकर उस भव में पाँचवे गुणस्थान का स्पर्श नहीं करते। उस भव में क्यों नहीं करते ? क्यों ? तीर्थंकर वीर होते हैं और श्रावक व्रत स्वीकार करना वीरता नहीं है। वे सीधे छलांग लगाते हैं। वे तैराक की तरह हाथ-पांव नहीं चलाते। इसलिए सीधे साधु व्रत / संयम जीवन को स्वीकार करते हैं।

आपने किन्हीं श्रावकों के वर्णन सुने होंगे। सुबाहु का उदाहरण लें। वहाँ प्रमाण मिलेगा। भगवन् ! आपकी वाणी तहमेव सत्य है। आपकी वाणी सुनकर राजा, सार्थवाह, गाथापति, सेनापति, इम्भ्यसेठ आदि आगार धर्म छोड़कर अणगा धर्म में प्रव्रजित हुए हैं।

**णोखलु अहं तहा संचाएमि**

उस प्रकार की प्रव्रज्या स्वीकार करने में मेरा सामर्थ्य जुट नहीं

पाया है। मुझ में अभी कमजोरी है। इसलिए आगार छोड़कर अणगार धर्म स्वीकार करने में समर्थ नहीं हूँ। किन्तु आपके सम्मुख मैं प्रतिज्ञा करना चाहता हूँ कि इसमें मानसिक कमजोरी व्यक्त की है, जो वीरता से विपरीत है। वीर असमर्थ नहीं होता, जबकि उसमें अपना सामर्थ्य नहीं जुट पाने का कथन है। जो इस प्रकार साधु जीवन स्वीकार करने का पौरुष नहीं जगा पाता है, वह श्रावक व्रत स्वीकार करता है। यथा-

**अहं णं देवाणुप्पियाणं अंतिए पंचाणुव्वयाइं सत्त सिक्खावयाइं दुवालसविहं गिहि धम्मं पडिवज्जिसामि।** अर्थात् मैं 12 प्रकार का गृहस्थ धर्म स्वीकार करना चाहता हूँ और वे स्वीकार करते हैं।

वर्तमान में साधु जीवन का सामर्थ्य जुटा पाना तो बहुतों के लिए टेढ़ी खीर बना हुआ है, पर श्रावक व्रत स्वीकार करने का भी कहा जाये तो अपनी कमजोरी ज्ञापित करने लगते हैं। एक सामायिक के लिए भी कहें तो उत्तर मिलता है- समय नहीं मिलता। ऐसा कहने वालों को समय कब मिलेगा कह नहीं सकता, पर यह तो कह सकता हूँ कि उनको ले जाने के लिए मौत को समय अवश्य मिल जायेगा। मौत के साथ जाने में तो उनको भी समय निकालना ही पड़ेगा। उस समय आपका धन भी आपको बचाने में सक्षम नहीं हो सकेगा।

धन का उपयोग भी यदि सम्यग् रूप से हो तो वह भी जीवन की अंधेरी रात में उजाला पैदा करने वाला बन जाता है। तीर्थंकरों का उदात्त जीवन का यदि समीक्षण करें, तो दीक्षा के पूर्व प्रत्येक तीर्थंकर एक वर्ष तक धन का सदुपयोग करते हैं। वे प्रतिदिन एक करोड़ आठ लाख स्वर्ण मुद्राओं का दान देते हैं। कहते हैं कि एक प्रहर दिन तक प्रतिदिन दान देते हैं, दोनों हाथ भर-भर कर उलीचते हैं, परन्तु मुँह देखकर तिलक नहीं करते। कई जगह ऐसी प्रवृत्ति देखने में आती है कि प्रभावना वितरीत होती है तो बच्चों को नहीं देते, खड़े व्यक्ति भले एक की जगह दो बार ले लें। पर तीर्थंकर एक प्रहर तक दान देते हैं, गिनते नहीं। एक वर्ष में 3 अरब, 88 करोड़ 80 लाख स्वर्ण मुद्राओं का दान देते हैं। उनके दान की अपनी महिमा होती है। उससे कितनों ही का भला होता है। कितनों

ही का आर्त्तध्यान मिटता है। अन्यथा आहार का साधन नहीं मिले तो आर्त्तध्यान बढ़ता है। कोई सोचे असंयति को दान दें तो वह संसार बढ़ाने वाला होगा। यदि ऐसे संसार बढ़ता तो तीर्थंकरों का संसार सीमित कैसे होता ? तीर्थंकर यह दान किसे देते हैं ? साधु को या गृहस्थ को ? कोई कहते हैं- **साधु थी अनेरो कुपात्र छे अनेरा ने दीघां अनेरी प्रकृति नो बंध होथाय।** अर्थात् उन्हें दिया गया दान सार्थक नहीं होता। भगवान महावीर ने जितना दिया वह गृहस्थ अवस्था में रहने वाले, असंयती, अव्रती कह सकते हैं, उन्हें दिया, पर संसार बढ़ा नहीं बल्कि उन्होंने दान की महिमा स्थापित की कि दान के लिए मन में संकोच नहीं, विशालता रहे। साधु को दें और स्वधर्मी, भिखारी, दु:खी, दरिद्र को धक्का दें, यह तो तीर्थंकर देवों का सिद्धान्त नहीं है। उन्होंने श्रावक के लिए "अतिथि संविभाग" की बात कही है। जिसका तात्पर्य है कि तुम्हारी आजीविका में अनेकों की संयुक्ति है। उसका विभाग होना चाहिये। कौन करता है, कौन नहीं करता है, यह सोचने की बात है। महावीर का सिद्धान्त मानने वाले को सोचना चाहिये कि हम जो अर्थ उपार्जित करते हैं, उसमें अनेकों का भाग होता है, तभी हम पूंजी कमा पाते हैं। वे अर्जन में सहयोगी होते हैं, इसलिये उनका भी उसमें विभाग होता है। इस दृष्टिकोण से चिन्तन बने तो आपाधापी व्याप्त नहीं हो और आपके घर में रहने वाले आपके साथ धोखा नहीं करें। तब सभी आपके साथ जुड़े रहेंगे और कहेंगे कि वस्तुत: सेठ तो सेठ ही होता है।

एक ब्राह्मण ने विचार किया कि मुझे बनिये की नौकरी नहीं करनी क्योंकि व्यापारी जब तक बने तब तक तो ठीक, नहीं तो घी में से मक्खी की तरह निकाल फेंकते हैं। संयोग से वह राजस्थान से घूमता हुआ बैंगलोर पहुँचा। नाम था देवदत्त शर्मा। छगनमलजी मूथा ने कहा- "यहाँ मेरे पास रह....।" उसने कहा- "आपके यहाँ नौकरी नहीं करूँगा।" मूथाजी ने कहा- "नौकरी नहीं करनी तो कोई बात नहीं, पर सदा परिवार का सदस्य बनकर रह। और वे उसे ता-जिन्दगी घर का सदस्य मानकर चले। इतना दिल उदार होना चाहिये। वस्तुत: श्रावक का दिल इतना ही उदार होता है। अन्य व्यक्तियों का दृष्टिकोण बदल जाता है, परन्तु श्रावक

की दृष्टि प्रत्येक मानव के प्रति यही रहती है कि यह मेरी आत्मा की तरह है। वह आत्मा को लेकर चलने वाला होता है। यही भगवान का उपदेश भी है-

**मानवता की भव्य भूमि पर बोल गये भगवान-**

**मानव-मानव एक समान....।**

भगवान तो प्राणीमात्र को समान मानने की बात कहते हैं, पर आज हम मानव को भी समान नहीं मान रहे हैं। अतः धर्म की बात करनी पड़ती है। अतः धर्म की बात समझें। धर्म मनुष्य को मनुष्य से अलग नहीं करता, जोड़ता है। यह जुड़ना ही शान्ति की गारण्टी है। अलगाव महसूस करेंगे तो खटपट होगी। कहावत भी है- 'दो बर्तन होते हैं तो खटकते हैं'। इसीलिये सब मिलकर एक बने। धर्म यही बात कहता है।

मैंने प्रारम्भ में शांति के स्वरूप की चर्चा की थी। मैंने कहा था कि हम भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में शान्ति के भिन्न रूपों की कल्पना कर लेते हैं, परन्तु भिन्नता का यह बोध भ्रम है। शांति को टुकड़ों में विभाजित नहीं किया जा सकता क्योंकि सबकी शान्ति और सम्पूर्ण शांति एक ही बात है। यही वह धर्म है, जिसकी पालना की बात करते हुए गीता में भी कहा गया है- "स्वधर्मे निधनं श्रेयः....।" जैन धर्म तो इसी को सम्यग्दर्शन के रूप में "जन धर्म" बना देता है। शांति के इस आधार को हम धर्म के संदर्भ में समझेंगे तो कहीं भी, किसी भी प्रकार की शंका की गुंजाइश नहीं रहेगी। आज विश्व में जो भीषण अशांति व्याप्त है, लोगों के मन जिस प्रकार अशान्त और तनाव से ग्रस्त हैं, उससे निजात पाने का यही एक मार्ग है। यही राजमार्ग भी है। भिन्न दिखने वाले अन्य मार्ग इसी में आकर मिलते हैं क्योंकि परमकल्याण तक यही मार्ग पहुँचाता है। चाहें तो हम इसे मोक्ष मार्ग कह लें।

14.10.2000

❖ ❖ ❖

# 18. आत्माभिमुख बनें

शांति के स्वरूप का विवेचन करते हुए पहला सोपान यह बताया गया है कि जो भाव जिस रूप में कहा गया है, उसी रूप में उसका श्रद्धान करना अर्थात् देव पर हमारी दृढ़ आस्था हो। जिनेश्वर देव ने जो बात कही है, उस पर दृढ़ आस्था रखें-

**जं जिणेहि पवेइयं....।**

वह अनुत्तर है, सत्य है। उसमें कहीं मीन-मेख नहीं, वितण्डा नहीं। उसमें अयथार्थ भी नहीं हो सकता। जिनेश्वर देव जो कथन करते हैं वह अविसंवादी होता है। उसमें विसंवाद का अवकाश नहीं कि एक जगह कुछ कह दिया, दूसरी जगह कुछ और। एक जगह कही गई बात का, जिसका खंडन कर दिया जाये या हो सके ऐसा जिनेश्वर देव का वचन नहीं होता। ये बात अलग है कि आगम में आई हुई बात को हम समझ नहीं पाते हैं, तो एक आगम से कही गई बात का दूसरे स्थल पर विरोध परिलक्षित कर लेते हैं। ऐसे अनेक स्थल आ सकते हैं, जो परस्पर विरुद्ध अनुभूत हो सकते हैं, पर उनका सम्यक् विश्लेषण या बोध कर लेना चाहिये। इसे एक उदाहरण से समझें।

स्थानांग सूत्र में कहा है- ''एगे आया'' और अन्यत्र अनंतानंत आत्मा की प्ररूपणा की गई है, चाहे भगवती सूत्र हो या प्रज्ञापना हो। प्रश्न सहज उपस्थित हो सकता है कि ये परस्पर क्यों ? वैसे हम चिंतन करें और तीर्थंकर देवों के आशय को सामने रखते हुए अर्थ-ग्रहण करें, तो भिन्नता रहेगी नहीं क्योंकि शब्द के अर्थ से आगम का ज्ञान नहीं होता। आगम ज्ञान के लिए नय-निक्षेप की आवश्यकता रहती है। द्रव्य-क्षेत्र काल-भाव को देखा जाता है। नाम स्थापना को भी देखना होता है। उसके आधार पर वस्तु तत्त्व का बोध किया जाये, तो कहीं पर विरोध टिक नहीं

पाता। बल्कि जो अनाप्त का कथन है उसमें भी आप्ततत्त्व का ज्ञाता एकात्मवाद को ढूंढ लेता है और विसंवाद को समवाद में परिवर्तित करने का लक्ष्य बना लेता है। इसलिये कहा है कि एक सम्यक्दृष्टि मिथ्या सूत्र का भी अध्ययन करें, किन्तु परिणमन सम्यक् रूप में होता है। किन्तु इसके विपरीत होता है मिथ्यादृष्टि में। मलेरिया का रोगी है तो गेहूँ की रोटी कड़वी लगेगी। गेहूँ की रोटी कड़वी नहीं है, सम्यक् है, पर मलेरिया से रोगाक्रान्त व्यक्ति के मुँह का स्वाद ही ऐसा होता है कि गेहूँ की रोटी भी कड़वी लगती है। वैसे ही मिथ्यादृष्टि के द्वारा सम्यक् सूत्र का अवधारण होता है तो वह उसका उसी रूप में परिणमन कर लेता है जबकि सम्यक्दृष्टि मिथ्याशास्त्र पढ़कर सारभूत तत्त्व ग्रहण कर स्वीकार करता है। वह उसमें भी सम्यक्त्व की स्थिति उपस्थित कर लेता है।

आचार्यदेव का धार में विराजना हुआ। वहाँ जिला कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष सिद्धनाथ उपाध्याय और जैन धर्म को मानने वाले वकील माणकलालजी पोरवाड़, दोनों वकील आपस में चर्चा करते थे। आचार्यदेव का पदार्पण हुआ तो जैन वकील साहब कहने लगे- "अब तक तो आप मुझसे चर्चा करते रहे थे, अब मेरे गुरुदेव से करना।" वे रात्रि में उपस्थित हुए क्योंकि रात्रि में प्रश्नोत्तर का समय स्वतंत्र रूप से प्रायः विधिवत् रहता था। उन्होंने अपने प्रश्न, अपनी जिज्ञासा रखी- "आप ईश्वर को मानते हैं या नहीं मानते ?" उन्होंने गीता का उदाहरण दिया कि वहाँ कहा है- जब-जब धर्म की हानि होती हैं, तब-तब मैं अवतार लेता हूँ और अधर्म का नाश करता हूँ। क्या इस बात को आप स्वीकार नहीं करते ? आचार्यश्री ने कहा- इस श्लोक का अर्थ बाद में बताऊंगा, किन्तु पहले यह बताइये कि महात्मा गांधी को महात्मा क्यों कहते हैं ? जबकि नाम था मोहनदास करमचंद गांधी। उन्होंने कहा- उन पर गोली चलाई गई उस समय भी उनके मुँह से निकला- "भगवान इसका भला करे।" उसके प्रति भी समभावथा। ये नहीं कि "उसे मार देना।" इसलिए हम उन्हें महात्मा कहते हैं।

विदेश में गांधीजी को मारने के लिए षड्यंत्र रचा जा रहा था। दोस्त साथ में चल रहा था। कुछ दूर चलने पर उन्होंने कहा कि आज मुझे

अच्छा नहीं लग रहा है। पूछा- "तुम्हारे पास क्या है ?" दोस्त ने कहा- "कुछ नहीं।" पर उन्हें संतोष नहीं हुआ, मित्र की तलाशी ली। रिवाल्वर निकला। कहा- "ये क्यों ?" उसने उत्तर दिया- "आपको मारने का षड्यंत्र चल रहा है, सुरक्षा के लिए मैंने इसे रखा है।" गांधीजी ने कहा- "अरे ! यह खिलौना क्या सुरक्षा करेगा ? हम खिलौने के भरोसे जीवित नहीं है। इसके भरोसे जिन्दगी नहीं टिकती। मुझे अहिंसा पर विश्वास है। फेंको इसे।" कहा जाता है- वहीं आस-पास झाड़ियों में वही व्यक्ति जो मारने के लिए आया था, छिपा था। वह बाहर आया और उसने माफी मांग ली। वे अहिंसा पर विश्वास करते थे। आचार्यश्री ने पूछा कि "महात्मा बड़े होते हैं या परमात्मा ? हमारा दृष्टिकोण एक प्रकार का नहीं है। भक्त-हृदय कहते हैं-

**गुरु गोविन्द दोऊ खड़े, काके लागूं पाय....।**

अरिहंत को सिद्ध से पूर्व नमस्कार क्यों किया ? क्योंकि वे चक्खुदयाणं, मग्गदयाणं, चक्षु देने वाले, मार्ग देने वाले हैं। ये आँख तो माता-पिता के तत्त्वों से निर्मित है, पर यथार्थ में जो ज्ञान की रोशनी होती है या जो ज्ञान की आँख होती है वह तो गुरु प्रदान करते हैं। जिसके द्वारा अज्ञान अंधकार दूर होता है और ज्ञान की प्राप्ति होती है, वह आँख तो गुरु प्रदान करते हैं। इसलिए पहले गुरु को नमस्कार करते हैं। किन्तु सिद्धों के 8 कर्म क्षय हो चुके होते हैं। गुरु शरीरधारी है और सिद्ध अशरीरी। वकील साहब ने उत्तर दिया- "महात्मा से परमात्मा बड़ा होता है। उन्हें उत्तर मिला- महात्मा गांधी, जिन्हें महात्मा कहते हैं वे भी अपकारी का भला चाहते थे, अहिंसा पर विश्वास करते थे। मारने वाले को मारने की तैयारी नहीं करते थे। पर परमात्मा कहते हैं कि मैं अधर्म का नाश करता हूँ, तो क्या वह परमात्मा रह पाता है ? महात्मा भी जब ऐसा नहीं करता तो क्या परमात्मा को ऐसा करना चाहिये ?" उपाध्यायजी विचार कर कहने लगे- "तो क्या हमारी गीता झूठी है।" उन्हें उत्तर दिया गया- "यदि गणित से विचार करें तो झूठी है या नहीं आप जानें, पर जैन सिद्धान्त के अनेकान्त को सामने रखकर चिन्तन करें तो स्पष्ट स्थिति ज्ञात हो पाएगी।" आचार्यश्री ने यह भी कहा कि-

**यत्र गत्वा न निर्वतयते तत् परमधाम मम।**

जहाँ जाकर लौटते नहीं हैं, वह मेरा परम धाम है। एक तरफ तो कहा है कि जहाँ धर्म की हानि होती है, मैं अवतार लेता हूँ और एक तरफ कहा जा रहा है, वहाँ से लौटते नहीं है, वह मेरा परम धाम है।"

वे चक्कर में पड़ गये। आचार्यदेव ने समझाने का प्रयत्न किया, बात उनकी समझ में आई। उसके बाद तो लगभग एक सप्ताह तक डिस्कशन चलता रहा, तब कहा- "हमने इतनी बातें जानी अब अनेकान्त के सिद्धान्त को जानना चाहते हैं।" आपको भी जिज्ञासा होगी कि गीता में भेद कैसे ?

एक जमाना था, जब भगवान को अवतार माना जाता था। चाहे राम हो या कृष्ण। आज भी कहा जाता है- छत्तीसगढ़ में आदिवासी इलाके में लोग राजा को अवतार मानते हैं क्योंकि वे प्रतिवर्ष उन्हें कई साधन उपलब्ध कराते हैं। वे आदिवासी यही मानकर चलते हैं कि राजा ईश्वर का अवतार है, उनसे ये चीजें प्राप्त हो जाती है। अब तो नहीं कहा जा सकता, पर वर्षों पूर्व जिस समय आचार्यदेव का विचरण हुआ था, तब उन आदिवासियों को इतना शास्त्रीय ज्ञान भी नहीं था। केवल राम-लक्ष्मण-सीता को जानते थे और यह भी जानते थे कि जो बड़े हैं वे राम, जो छोटे हैं वे लक्ष्मण और जो औरत हैं वे सीता है। उन्हें इससे ज्यादा पौराणिक ज्ञान नहीं था। ऐसे लोग राजा को ईश्वर का अवतार मानकर चलते हैं। उपाध्यायजी से आचार्यश्री ने कहा कि वे राजा को अवतार मानते थे क्योंकि वे भी अपने प्राणों की परवाह न कर प्रजा का पुत्रवत् पालन करते थे, तो इसलिये प्रजा भी उन्हें ईश्वरीय अंश मानती थी। वे राजा धर्म की हानि होने पर नैतिक जीवन की प्रतिष्ठा करते थे। यहाँ उस संदर्भ से कहा, किन्तु जो एक वार वैकुण्ठ में चला जाये वो सिद्ध वन जाये, उसके जन्म-मरण समाप्त हो जाते हैं। तो वहाँ गीता की वात भी संगत वैठ जाती है। उनका समाधान हो गया। यह मिलता है गुरु से। इसीलिए शांति के सोपान में दूसरा पद है जिसकी विवेचना करते हुए कहा गया है-

## आगमधर गुरु समकिती, क्रिया संवर सार रे.....।

देव द्वारा निरूपित तत्त्व पर तुमने श्रद्धान किया। 'तमेव सच्चं'। यही अर्थ है, बाकी सार्थक नहीं है। जो जिनेश्वर प्ररूपित है, वही सार्थक है, वही सत्य है ऐसी दृढ़ आस्था होनी चाहिये। उनके कथन पर श्रद्धान का तात्पर्य हुआ कि हमने उन पर श्रद्धान किया, यह शांति का प्रथम सोपान है। दूसरा श्रद्धान बताया कि देव पर श्रद्धान के बावजूद गुरु की आवश्यकता है। उनके बिना सम्यक्ज्ञान नहीं मिलता। आनंदघनजी एक पद में यहाँ तक कहते हैं-

**गगन मंडल के अधबीच कुआँ, जहाँ है अमी का वासा**
**सगुरा हो जो चख-चख जावे, नगुरा जावे प्यासा।**

वे रहस्यवादी कवि हैं। आकाश के बीच में कुआं होता है क्या ? वस्तुतः वह तो जमीन में खोदते हैं, पर वे कहते है उस कुएं में अमी अर्थात् अमृत का वास है। सगुरा अर्थात् जो गुरु सहित है। जो गुरु को स्वीकार कर चलने वाला है, वह उस अमृत को चख पाता है और नगुरा जावे प्यासा अर्थात् जिसके गुरु नहीं है, जिसे कोई दिशाबोध देने वाला नहीं है, वह प्यासा का प्यासा रह जाता है। यहाँ कवि कहते हैं- 'आगमधर', 'समकिती', बहुत से विश्लेषण दिये हैं। 'आगमधर', 'समकिती', 'क्रिया संवर युक्त' और भी विशेषण कविता की पंक्तियों में अंकित है। सबसे पहले कहा- आगमधर तो उसकी बात करें।

## पानी पीजे छानकर और गुरु कीजे जानकर।

'जानकर' अर्थात् परीक्षा करनी है। जहाँ पहले के लोग चार आने की हाँडी लाते थे, तो उसे भी ठोंक कर देखते थे कि पक्की है या नहीं, जोजरी तो नहीं है, फिर पैसे देते थे। पहले पहचान कर लो, नाता जोड़ लिया तो फिर पहचान करने की जरूरत नहीं। यदि लड़के की शादी कर दी, अर्पण कर दिया, फिर तलाक नहीं, जीवनपर्यन्त निर्वाह करना होगा। ये बात अलग है कि पहचान में कहीं भूल रह गई हो अन्यथा स्पष्ट कहा है कि- "आगमधर हो।" अर्थ क्या है ? आगम को धारण करने वाला। इसका अर्थ क्या है ? जरा इसकी विवेचना करें।

आज के युग में कम्प्यूटर में आगम फिट है, तो कम्प्यूटर क्या हो गया ? कम्प्यूटर भी आगमधर हो गया ? सारे आगम कम्प्यूटराईज्ड किये जा चुके हैं। यहाँ तक सुनने में आया है कि जितने भी जैनिज्म के ग्रंथ उपलब्ध हैं, पूरी लायब्रेरी कम्प्यूटर में फिट है, तो आज के युग में आगमधरों की कमी नहीं रहेगी। टेप रिकॉर्डर में भर दो, एक-एक वाक्य का शुद्ध उच्चारण होगा। हमारी वर्तनी में कमी रह जाये, अशुद्ध उच्चारण हो जाये, पर टेप में शुद्ध उच्चारण भर दिया कि-

**तेणं कालेणं, तेणं समएणं....।**

पूरा का पूरा घर बैठे सुन लेंगे, पर कम्प्यूटर आगमधर नहीं है। एक व्यक्ति सारे आगम कंठस्थ कर ले, तो क्या वह आगमधर हो जायेगा ? शास्त्रकार नहीं मानते कि इतने मात्र से आगमधर हो सकता है, वह आगमों को उठाने वाला हो सकता है। कहा जाता है- गधे पर चंदन की लकड़ियाँ लाद दो, तो वह भार तो ढो सकता है, समझ नहीं सकता। वैसे ही आगम के हार्द्र को न जानें, माथे में पूरे भर लें, तो वह गधे पर लादने जैसी स्थिति है। जैसे गधा भारवाहक है, वैसे ही वह भी। आगम भारवाहक है। आगम का तात्पर्य-

**आ समन्तात गम्यते, परिच्छिद्यते तत्।**

चारों ओर से जिसे माना जाता है, वह आगम है। किसका ज्ञान ? जैसे वह ओघा है, इसका चारों ओर से ज्ञान किया जाता है, यह भी आगम है। आप कहेंगे ये कैसे ? जितने भी ज्ञेय पदार्थ हैं वे आगम हैं। ये पुट्ठे लिये हुए हैं ये आगम होंगे ? इन्हें हम उपचार से मानते हैं। जैसे कहा जाता है- घी का घड़ा। घी अलग है, घड़ा अलग है। वैसे ही इनके माध्यम से ज्ञान करते हैं, यथार्थ में जिसे जानते हैं, वह आगम है। जैसे- घट। इसी प्रकार "आ समन्तात् गम्यते परिच्छिद्यते येन।" जिसके द्वारा जानते हैं। हमारे अंदर जो ज्ञान रहा हुआ है, उससे ज्ञेय का बोध करते है।

बात जटिल हो रही होगी। आप कहेंगे हमें तो यह बताइये गेहूं की रोटी से भूख कैसे शान्त हो। यदि अभी बनी-बनाई रोटी खा ली तो भूख मिट जाएगी, पर बनाने की तरकीब नहीं आई तो गेहूं पड़े रहेंगे और

आप भूखे रह जाएंगे। गेहूँ को कोरे बेले तो बेले नहीं जाएंगे। कोई आटे को पानी में डाल दे तो राबड़ी बन जाएगी, रोटी नहीं बनेगी। तकनीक न जानें तो भारी कठिनाई हो सकती है। पानी थोड़ा डाला तो गांठें पड़ जाएंगी। पहले आटे को पानी से गूंथना पड़ेगा, फिर लोथे बनाकर चकले पर बेलन से बेलना पड़ेगा। गेहूँ की रोटी बनाना तो फिर भी आसान है, किन्तु बाजरे की रोटी बनानी हो तो ? उसकी भी तकनीक होती है। पहले लोचदार गूंथा जाये, फिर रोटी घड़ी जाये, नहीं तो आधी इधर गिरेगी आधी उधर। कहने का आशय है ज्ञान हो, जिसके माध्यम से जानोगे। नहीं जाने तो बना नहीं पाएंगे। इसलिए जिसके माध्यम से चारों ओर से ज्ञान लिया जाता है, वह हो पाया आगम। जिसके माध्यम से ओघे का ज्ञान किया जाता है, वह आगम हो गया। इस प्रकार ओघा भी आगम है, जिससे ओघे को जानें, वह भी आगम है।

**आ समन्तात् गम्यते परिच्छिद्यते यस्मिन्।**

जिसके भीतर हम खोज करते हैं, वह आगम है। जिसमें खोज की जा रही है, वह आगम है। यदि आत्मा के भीतर शांति की खोज कर रहे हैं, तो आत्मा आगम हो गया। पहली परिभाषा में यदि शांति को देख रहे हैं, तो शांति आगम है। आत्मा के अंदर खोजें तो आत्मा आगम है। ये तो अलग-अलग व्युत्पत्ति के अनुसार व्याख्या बनती है, किन्तु यथार्थ में ऐसा आगम जो हमारे भीतर रहा हुआ है, उसे जो धारण करे वह आगमधर। जो अनेक तथ्यों के आधार पर चिन्तन का फैलाव करे, वह भी आगमधर।

एक परिभाषा यह भी है कि आगम-आप्त द्वारा प्रणीत-प्ररूपित जो कि शब्द वाक्य हैं, वे आगम है। आ = आप्त द्वारा प्ररूपित, गव = गणधर द्वारा ग्रहित है। म = जो मुनियों द्वारा आचरित होता है, वह होता है आगम। ऐसे आगम को जो धारण करने वाले हैं, उसका ज्ञान करके जो चलने वाले हैं, ऐसे आगमधर सच्चे मायने में गुरु पद के अधिकारी है। ऐसे गुरु का योग मिलता है तो अज्ञान का अंधकार दूर हुए बिना नहीं रह सकता। ये बात अलग है कि हमारे ही निविड़ कर्म का योग हो, रैटीना

ही खराब है तो ज्योति आ नहीं सकती। यदि मोतियाबिन्द, काला-पानी है तो इलाज किया जा सकता है, पर रैटीना ही चली गई तो डॉक्टर के पास इलाज नहीं है। वैसे ही जो घोर मिथ्यात्व, अंधकार में पड़ा है, जिसकी रैटीना ही समाप्त हो चुकी है, उसे ज्ञान करवाना नामुमकिन है। वैसे को भी हो जाये तो दुनिया में कोई भी अभवी नहीं रहेगा, सभी को ज्ञान हो जायेगा। इस सम्बन्ध में यह भी ज्ञातव्य है कि जो प्रवचन के प्रति उन्मुख हो, वही ज्ञान प्राप्त कर पायेगा।

प्रश्न व्याकरण-सूत्र में बताया गया है कि परदेशी राजा के लिए कहा केशीश्रमण को कि उपदेश दें। केशी कहने लगे- ''उपदेश तो दूँ, पर जब तक वह अभिमुख न हो तो दूँ कैसे ? नल में पानी आ रहा है, पर घड़ा उलटा है तो नहीं भरेगा। घड़ा अभिमुख होना चाहिये। तालाब से भरना है, तो पहले अभिमुख होना चाहिये। वैसे ही जब तक देव-गुरु के प्रति अभिमुखता नहीं है, तब तक प्रवचन को ग्रहण नहीं कर पाएंगे। आँखों के अंजन शलाका हो नहीं पाएगा। ऐसे व्यक्ति सहसा गुरु का सान्निध्य कर नहीं पाते हैं। कर भी लें, तो वह कौतूहलयुक्त होते हैं, तो फिर कैसे लाभ मिले ? उसके लिए पहले भीतर रिक्तता चाहिये और रिक्ततापूर्वक अभिमुख हैं, तो प्राप्त होने वाला ज्ञान गटागट उतर जाएगा, नहीं तो, गले में गलगाँठें हो जाये, तो पानी उतारने में भी कष्ट होता है। तो फिर रोटी कैसे खायें। गला साफ है तो कठिनाई नहीं होगी। वैसे ही श्रद्धायुक्त जिज्ञासा है तो ही वीतराग वाणी उतरेगी और ऐसा शांत-प्रशांत स्वरूप उजागर होगा, जिसकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते।

भगवान महावीर के जीवन का प्रसंग है जब दीक्षा का समय नजदीक आया तो लोकांतिक देव चलकर आये और मधुर, प्रिय वचनों से स्तुति करते हुए कहा- ''तीन लोक के नाथ अब अवसर आ गया है, अब आप संयम स्वीकार करें, धर्म का प्रवर्तन करें, भव्य जीवों का उद्धार करें।'' प्रभु महावीर की अभिमुखता ने उन वचनों को झेला और तत्पर हो गये दीक्षित होने को।

भगवान महावीर का युग भी कैसा युग था ! कैसी विडम्बना

चल रही थी- पशुओं पर छुरियाँ चलती थीं, रक्त की नदियाँ बहती थीं। तब करुणा के सागर ने करुणा की, गंगा बहाई। वीर जिनेश्वर ने सोयी हुई दुनिया को जगा दिया था, पर हम आज क्या कर रहे हैं ? कान में रुई डालकर सो रहे हैं, ताकि आवाज सुनायी ही न पड़े। यदि यह शयन प्रक्रिया बनी रही, नहीं जगे, तो बिगाड़ स्वयं का ही होगा। संत तो बोध देने वाले हैं, लेना या नहीं लेना तो श्रावकों पर निर्भर है ? कभी संत कहते हैं-

**उठो नर-नारियों जागो, जगाने संत आये हैं।**

उसके बावजूद हमारी गहरी तंद्रा, गहरी मूर्च्छा न टूटे तो बात अलग है। आज भी पशुओं पर छुरियाँ चलती हैं और भगवान के युग में भी चलती थीं, तो कौनसी विशेषता आ गई ? आज जो चलती है वे अलग है, उस समय जो चलती थी, वे धर्म के, यज्ञ के नाम पर चलती थीं। मनुष्यों तक की बलि यज्ञवेदी पर चढ़ा दी जाती थी। उस युग की बात कुछ निराली थी। खाने के लिए पशुओं का वध उस समय भी चलता था। काल शौकरिक कसाई प्रतिदिन 500 पाड़े मारता था। भगवान से श्रेणिक ने पूछा तो भगवान ने कहा- "नरक टालनी हो तो एक दिन के लिए कत्लखाना बंद करवा दें।" अभी आपको देखिये कितना पुरुषार्थ करना पड़ता है। एक एप्लीकेशन देते हो तो नगर निगम आपकी भावना को महत्व देते हुए तपस्या या विशिष्ट पर्व प्रसंगों पर बूचड़खाने बंद करवा देता है, माँस की बिक्री पर रोक का आदेश जारी हो जाता है। पर उस युग में जो मगध सम्राट थे, वे श्रेणिक एक दिन के लिए बंद नहीं करा पाये। उसने स्वीकार नहीं किया। राजा ने डलवा दिया काल कोठरी में। फिर भी मारे पाड़े झटका करते हुए। जो धूल शरीर पर चिपक गई थी, उसका मल उतारा। उतार-उतार कर बनाये पाड़े और नाखून से करता रहा- "ये मारा। एक, दो, तीन....।" कितनों का वध कर दिया ? कहते हैं 500 का वहीं पर वध कर दिया। कर्मबंध हुआ या नहीं ? वे तो मैल के थे, किन्तु कहा गया है- "परिणामे बंध" परिणाम मारने का था। परिणाम से तो मार दिया। सम्राट सोच रहे थे कि मैंने बंद करवा दिया। मगध सम्राट श्रेणिक खुशी-खुशी पहुँचे भगवान के पास- मैंने विजय पा

ली। एक दिन के लिये कत्लखाना बंद करवा दिया। वह नहीं मान रहा था तो अंदर कर दिया। परन्तु सत्य यह है कि तुम्हारी मर्जी हो जो कर लो, पर जब तक भावों का परिवर्तन नहीं होगा, तब तक पाप करने वाला कहीं भी पापकर्म कर लेगा। राजा ने सोचा भगवान से पूछकर निर्णय कर लूं। कहा- कल तो उसने पाड़े नहीं मारे हैं।'' भगवान ने कहा- ''राजन् ! उसने तो कल भी गिन-गिन कर अपना कोटा पूरा कर दिया। भावों से कर दिया।'' पर उससे भी भयंकर बात जो थी कि धर्म के नाम पर दुनिया को भ्रमित किया जा रहा था। यज्ञ में मनुष्य-पशु बलि का प्रचलन था। संसार की आँखें नहीं खुल रही थीं। ऐसे समय में महावीर जगाने वाले बने। ऐसी हिंसा के विरुद्ध उन्होंने सिंहनाद किया।

आज हमारा सिंहनाद कोई दीक्षा लेना चाहता हो तो उसे रुकवाने के लिए तो होता है, पर अन्याय-अपराध वृत्ति के विरुद्ध हम कितना सिंहनाद कर पाते हैं। दीक्षा के विरुद्ध सिंहनाद करना कर्मबंध का कारण है। यदि वैराग्य भाव प्रबल हो तो कोई दीक्षा से रोक नहीं पाता है। आचार्यश्री श्रीलालजी म.सा. पर हालांकि परिवार वालों का इतना मोह था कि 10 वर्ष की अवस्था में ही शादी कर दी थी, पर वे निर्लिप्त रहे। ऊपर से कूद पड़े। माता ने कहा- दीक्षा तो दूं नहीं, परन्तु गूजरमलजी और वे चले गये। नाला पार करके पहले श्री श्रीलालजी ने सावद्य योग का त्याग किया, फिर उन्हें प्रत्याख्यान करवाये। वस्त्र वहीं रख दिये। दो दीवानें चल पड़े अविनाशी तत्त्व की खोज में। परिवार वालों ने बहुत प्रयत्न किया, पर सफल नहीं हो पाये। वैरागी का वैराग पक्का हो तो कोई रोक नहीं पाता और कच्चा-पोचा है तो साधु बनकर भी निहाल नहीं करेगा। ये बात अलग है कि कभी कच्चा-पोचा भी पारंगत हो जाये।

कोई सोचे ज्ञान नहीं तो मुनि नहीं वन सकते, पर ऐसा नहीं है। ज्ञान कम हो या अधिक यह वैराग्य का मापदण्ड नहीं, वैराग्य की कसौटी तो संवेग और निर्वेद भाव है। ये भाव जितने गहरे होंगे वही उसके लिए महत्त्वपूर्ण है। कभी-कभी कुछ साधक ऐसा सोच लेते हैं कि यह तो पाँचवां आरा है, चले वैसा चलने दो। पर ऐसी क्या बात है ? अपने भीतर के शौर्य को जागृत करो। पाँचवें आरे के नाम से कमजोरी छिपाने का

प्रयत्न क्यों करते हो ? क्या असुविधा है ? मुस्तैद चाल और दृढ़ संकल्प हो तो पालना न हो, ऐसा माना नहीं जा सकता। यदि ऐसा कह दें तो तीर्थंकर देवों की वाणी कैसे सुरक्षित रहेगी ? 21,000 वर्ष तक धर्म कैसे चल पाएगा ?

आचार्य देव की पुण्यतिथि आ रही है। रात बीती, प्रभात सामने रहेगा। संत बार-बार प्रेरणा दे रहे हैं, किन्तु जब तक हमारी अभिमुखता न हो, तब तक इस कान से सुना उस कान से निकल जायेगा। और अभिमुखता से जोड़ने का प्रयत्न किया तो एक दिन में कुछ बिगड़ नहीं जाएगा। बस, हमारी रुचि होनी चाहिये। भाव-संकल्प बन गया तो कार्य परिणति में बाधा आ नहीं सकती। निमित्त कुछ भी बन सकता है, पर ये तप हमें आत्मशुद्धि की भावना से करना है। शान्ति के सोपानों की चर्चा में कई महत्वपूर्ण बिन्दु आपके समक्ष प्रस्तुत कर गया हूँ। जिनेश्वरों की वाणी पर श्रद्धान और उसके साथ ही गुरु का गरिमामय मार्गदर्शन, ताकि मिथ्यात्वरूपी मलेरिया का बुखार हटे और गेहूँ की रोटी तुल्य तत्त्व का सम्यक् स्वाद हम ले सकें और गगनमण्डल के अधबीच रहे हुए कुएं के अमृत-सलिल का भी पान कर आत्मा को अभिमुख बना सकें।

15.10.2000

# 19. मानवता के मसीहा

## (आचार्य श्री नानेश की प्रथम पुण्यतिथि पर विशेष प्रवचन)

शांति जिन एक मुझ विनति.....

शांति के सोपानों में गुरुपद सोपान का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। गुरु के बिना ज्ञान नहीं मिलता "गुरु बिनु होई न ज्ञान"। यह बात अलग है कि गुरु से ज्ञान प्राप्ति के पश्चात् भी अर्थात् बहुत कुछ पाने के पश्चात् भी हमारी स्थिति बदले नहीं। हम अज्ञ के अज्ञ बने रहें। तब यह हमारा ही दोष होगा, क्योंकि कहा भी गया है- "मूरख हृदय न चेत, जो गुरु मिलहि विरंचि सम।" दूध में पानी और शक्कर की बातें आपने सुनी हैं, किन्तु दूध से ही घी का निष्पादन भी होता है। दूध अपना अस्तित्व समाप्त कर घी का रूप धारण करता है। वही घी निष्पत्ति काल को भूल जाता है कि मुझे घी बनाने से पूर्व दूध को किन-किन कठिन अवस्थाओं से गुजरना पड़ा था। पहले ताप सहना पड़ा था, फिर उसे विजातीय तत्त्व अर्थात् 'जामण' से मिलना पड़ा था। तब वह दही बना था। फिर उसे घोल का रूप स्वीकार करना पड़ा था। उसके बाद उसे बिलौने में खूब मथा गया था। पर इतना कुछ सहने के बाद भी घी की स्थिति नहीं बन गई थी। उसे फिर आँच पर चढ़कर, तपकर, उसमें रहे हुए छाछ के अंश को जलाकर ही घी का रूप प्राप्त करना पड़ा था।

परन्तु घी निकलता है दूध में से ही। शिष्य का निर्माण भी गुरु रूपी दूध से होता है, किन्तु घी का रूप प्राप्त कर लेने पर उसकी अवस्था विचित्र हो जाती है। यदि उसे पुनः दूध में मिलाया जाये तो वह दूध में मिलता नहीं। दूध के ऊपर-ऊपर ही तैरता रहता है। बंधुओं ! इस युग में हमें ऐसी ही अवस्था सामान्यतः दिखाई देती है कि हमें हाथों पर उठाकर रखा जाता है, जैसे दूध में घी। ऐसे ही शिष्यों को यदि तैराकर रखा जाये तो वे प्रसन्न रहते हैं। परन्तु यह स्थिति कल्याणकारी नहीं है।

इसलिए आचार्यदेव ने उससे अपनी स्थिति को भिन्न किया और यह बतला दिया कि घी को भी पुन: दूध में मिलाया जा सकता है, घोला जा सकता है। वह कब संभव है ? जब घी को पुन: दूध में मिलकर आँच पर चढ़ाकर ओटाया जाये तब वह मिल सकता है, मिलता है और घुलता है और इसके लिये उन्होंने स्वयं को गुरु के अनुशासन में विलीन कर दिया।

बंधुओं ! आचार्यदेव के विषय में जितना कुछ कहा जाये वह अपर्याप्त होगा, कम ही होगा। जैसे अनंताकाश का ओर-छोर नहीं होता, अनंत की शक्ति को बांधा नहीं जा सकता, वैसे ही आचार्यदेव के जीवन प्रसंगों का पार पाना, उनका पूर्णतया कथन कर पाना हमारे वश की बात नहीं है। जब पूर्व वक्तागण अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते रहे तब मैं विचार कर रहा था कि मैं श्रद्धांजलि अर्पित कैसे करूँ। श्रद्धांजलि अर्पित करने जैसी क्षमता मुझ में नहीं है। मुझ में उतना सामर्थ्य भी नहीं है, क्योंकि आपकी श्रद्धांजलि और मेरी श्रद्धांजलि में बहुत बड़ा अंतर है। आप श्रद्धांजलि उसे कहते हैं जिसमें हाथ जोड़कर माथा नमाकर अर्पणा की जाती है। परन्तु श्रद्धांजलि का इतना-सा अर्थ नहीं है। यह तो बहुत बौना अर्थ है। हम श्रद्धांजलि के भाव को समझें। अंजलि का अर्थ होता है- 'हाथ' और हमारी क्रियाशीलता हाथ में ही निहित होती है। हम जिस कार्य का भी निष्पादन करते हैं, उसमें हाथ की प्रमुख भूमिका होती है। इसीलिए कहते हैं कि एक व्यक्ति के पीछे हजारों हाथ कार्य करने लगे तो कार्य संपन्न होने में देर नहीं लगती। एक व्यक्ति के लिए जो कार्यभार हो सकता है अनेक हाथ यदि जुड़ जाये तो उसकी संपन्ता में कहीं रुकावट नहीं आ सकती। वह अच्छी तरह संपन्न हो सकता है।

अंजलि का अर्थ हाथ है और हाथ क्रियाशीलता का प्रतीक है। इसलिए श्रद्धांजलि देते हुए संकल्प करें कि जो श्रद्धा आपके प्रति, तत्त्वों के प्रति रही है उसी के अनुसार कार्य, व्यवहार, वर्तन होगा। मुँह से श्रद्धांजलि शब्द का उच्चारण जितना सरल है, जीवन में उसे आचरित करना उतना ही कठिन है। मैं ये विचार कर रहा था कि मेरे भीतर सामर्थ्य नहीं कि आचार्यदेव के चरणों में श्रद्धांजलि अर्पित कर सकूं, क्योंकि उस महान् सामर्थ्य संपन्न आत्मा की कार्यशैली को, उसके अथक परिश्रम को मैं अपने जीवन में उतारने का साहस ही कैसे कर सकता हूँ ? यदि ये

**कहूँ कि उनके जीवन के सामने नाव के रूप में भी मेरे जीवन का सामर्थ्य नहीं है तो बताईये मैं किस रूप में अर्पित करूँ ?** शब्दों की श्रद्धांजलि वहाँ तक पहुँच नहीं पाएगी, न शब्दों की श्रद्धांजलि से वहाँ तृप्ति होगी, न हमें ही तृप्ति होगी। ऐसी स्थिति में शब्दों में समय को व्यतीत करना कोई मायने नहीं रखता। इसलिए मैं कई बार कहता हूँ कि श्रद्धांजलि के स्थान पर हमें गुण स्मरण करना चाहिये। हम गुण स्मरण कर सकते हैं। हमारे भीतर ऐसा संकल्प जगे कि ऐसे आचार्य का स्मरण कर हम अपने भीतर शौर्य-ओज जगायें। शक्ति पैदा करें कि श्रद्धांजलि देने लायक अपने आपको बना सकें। यदि ऐसा संकल्प-चिन्तन बना, ऐसी व्यवहार की स्थिति बनी, तो वस्तुतः आचार्यदेव के चरणों में सच्ची श्रद्धांजलि अर्पित कर पाएंगे।

आपने सुना है कि आचार्यदेव का जीवन सेवा की संजीवनी रहा था। कैसी-कैसी सेवाएँ उन्होंने कीं, अभी समय नहीं कि उस महाभारत को विस्तारपूर्वक प्रस्तुत करूँ। मैं महाभारत किसलिए कह गया यह भी समझ लें। महाभारत में कौरव-पांडव, धृतराष्ट्र आदि थे। आचार्यदेव के जीवन में भी वैसे ही पात्र आये थे। गलत अर्थ मत लगा लेना। उनके जीवन प्रसंगों में यदि कहीं भीष्म पितामह की स्थिति थी। कई लोग कौरव के रूप में भी सामने आये, किन्तु इसके बावजूद आचार्यदेव का चित्त फोटो की प्लेट नहीं बल्कि दर्पण का पटल रहा। फोटो की प्लेट दृश्य को पकड़कर बैठ सकती है, किन्तु दर्पण पटल पर दृश्य आता और जाता है। वह दृश्य को पकड़कर नहीं बैठता। अतः आचार्यदेव के चित्त, उनकी मानसिक स्थिति या उनके मनोभावों की तुलना दर्पण से करूँ तो अतिशयोक्ति नहीं होगी।

क्या-क्या प्रसंग नहीं आये उनके जीवन के प्रवाह में। शैशव काल में कई घटनाएँ घट गईं। कहाँ समझ रहा था, वह नाना ? कहाँ शास्त्रों का अध्ययन किया और संतों का उपदेश सुना ? किन्तु व्यापार करने की तैयारी में साझेदार से उन्होंने कहा- "ये साझे का काम खतरनाक होता है। दो व्यक्तियों को टूटते देर नहीं लगती, किन्तु ध्यान रखना हमें काम करने का सामर्थ्य जगाना है। अतः मुझे गुस्सा आये तो

तुम चुप रह जाना, तुम्हें गुस्सा आये तो मैं चुप रहूँगा। तब ये व्यापार चलेगा। नहीं तो साझे का व्यापार चल नहीं पाएगा।" साझे का व्यापार अर्थात् एक से दो या एक से अधिक या संघ का रूप। संघ संचालन की ऐसी समझ शैशवावस्था में किसी ने बताई नहीं थी। ईश्वरीय देन थी, स्वतः स्फूर्त थी। ऐसे संस्कार प्रकृति से जन्म से प्राप्त थे। क्या उन्हें शिक्षक पढ़ाते थे। जैसे महावीर के लिए कहा जाता है ? मैं उतने विस्तार में नहीं जाऊँगा। दांता में भी पढ़ने की व्यवस्था की गई, किन्तु उन्हें 'क' का केवलिया रटने की आवश्यकता नहीं पड़ी। जो स्वयं प्रकृति से ही अध्ययन करने को तैयार हो, जिसे प्रकृति ही अध्ययन करा रही हो, उसे शिक्षक क्या कराते ? छोटी अवस्था में ही पिता का वियोग हुआ। उन्हें शव वाहिका में बांधकर शमशान ले जाने की तैयारी हो रही थी। उन्हें समझ में नहीं आया कि ये क्या किया जा रहा है। उन्होंने पूछा तो बताया गया मृत्यु हो गई है। वे यह भी नहीं जान रहे थे कि मृत्यु क्या होती है। इस पर चिन्तन भी बोध का कारण बन जाता है। ट्रेन को देखा तो सोचने लगे, ये क्या है ? मैं भी बड़ा होकर ट्रेन चलाऊँगा। रेल के इंजन के पीछे डिब्बे कितने होते हैं ? दस, पन्द्रह, बीस। यदि ट्रेन असम जैसे पहाड़ी प्रदेश की हो और डिब्बे अधिक हों तो उसमें दो इंजन लगाये जाते हैं, तब ही वह घाटी पार कर पाती है। किन्तु आचार्यदेव तो ऐसे इंजन थे जो अकेला ही 300-350 डिब्बे लेकर विकट घाटियों के पार ले जाने में सक्षम था। ऐसा इंजन और इतने डिब्बों की ट्रेन क्या आपने कहीं देखी है ? दुनिया में तो हो भी नहीं सकती, परन्तु आचार्यदेव में कुशल नेतृत्व क्षमता थी।

कई भाई विचारों को परोसते हैं और बात-बात में कहते हैं कि आचार्यदेव में और तो सब ठीक था, पर निर्णायक क्षमता में वे ढीले थे। कैसे समझा यह उन्हें ? हम अपने विचारों का आरोपण करते हैं, हम चाहते हैं हम जो निर्णय दें उसे वे स्वीकार कर लें तो ठीक है नहीं तो गलत। किन्तु आचार्यदेव का निर्णय मील का पत्थर होता था। जो निर्णय वे कर लेते थे उससे पीछे कदम हटाने की बात नहीं आती थी। आप संवत्सरी के विषय में सुन चुके हैं। जब आचार्य भगवन् के सामने

भ. महावीर की 2500वीं जन्म-जयंती का प्रसंग आया, तब राजस्थान समिति के मंत्री गदियाजी आये और कहा कि महावीर जयंती का कार्यक्रम है, तो आचार्यदेव ने कहा कि आप महावीर जयंती की बात कर रहे हैं यदि आप कर सको तो संवत्सरी एक हो जाये तो बहुत बड़ी उपलब्धि होगी। आप बहुत कुछ कर लो पर दूल्हे का पता नहीं तो बारात सजाकर कहाँ जाओगे ? दूल्हे के रूप में संवत्सरी एक होनी चाहिये। उन्हें विश्वास नहीं हुआ, क्योंकि ऐसी हवा थी कि आचार्य श्री नानालालजी म.सा. कट्टरवादी, पुराणपंथी संकुचित विचार वाले हैं। गदियाजी ने कहा- "आपका सहयोग तो रहेगा ?" आचार्यश्री ने कहा- "आप कहो तो खाली पेज पर हस्ताक्षर करने को तैयार हूँ कि यदि पूरा समाज चौथ को करे, पाँचम को करे, कभी करे। पूरा जैन समाज जिस दिन के लिए तैयार हो, मैं भी उस दिन के लिये तैयार हूँ। कोई सोचे कैसे कह दिया ? किसी की सोच को नहीं रोक सकते। सोच अपना-अपना होता है। चर्चाएँ चलीं। शास्त्रकारों ने कहा है कि पर्युषण काल होता है उस समय पर्युषण न करें तो वह प्रायश्चित्त का कारण होता है, किन्तु कौन सीने पर हाथ रख कर कह सकता है कि हम शास्त्र के अनुसार संवत्सरी कर रहे हैं। आने वाले वर्ष में परीक्षा का समय है। पाँच महीने का चातुर्मास आ रहा है। कौनसे शास्त्र में लिखा है कि चातुर्मास पाँच महीने का होता है ? और कौन साधु हिम्मत कर कह सकता है कि हम चार माह में चातुर्मास उठाकर विहार कर देंगे। हम शास्त्र की दुहाई देते हैं, पर हर जगह क्या हम आगम के साथ चलते हैं ? हम आगम के साथ चलते भी है, नहीं भी चलते हैं। तो आचार्यदेव का उद्घोष रहा कि हमारा मूल सूत्र है कि एक संवत्सरी हो तो ठीक, नहीं तो मैं कहूँ हमारी संवत्सरी आगम की है, शास्त्रानुसार हैं। दूसरा कहता है कि मैं आगम के अनुसार मना रहा हूँ। यदि एक धरातल नहीं बनता है तो जिसकी जो आराधना पद्धति है, उससे वह कर रहा है।

बंधुओं ! आचार्यदेव का जीवन अत्यन्त निस्पृह और निरपेक्ष रहा था। कभी किसी शिष्य का शिष्य रूप से आवाहन नहीं किया, बल्कि वे कहते थे मेरे भाई हैं, भगिनियाँ हैं। कई वैरागी आये पर ये नहीं कहा कि आजा। उन्होंने कई वैरागियों को संकेत दिया कि अभी घर पर ही 12 व्रत

की आराधना करो। आज भी वे वैरागी संसार में हैं। आचार्यदेव की नजरें बड़ी पारखी थीं। वे जानते थे कि संसार में फँसे अपात्र को यदि दीक्षा दे भी दी जाती तो बाद में क्या स्थिति बनती ? जब तक आचार्यदेव के मन की तृप्ति की स्थिति नहीं बनती थी तब तक वे हर किसी को दीक्षित करने के लिए तैयार नहीं होते थे। जब पूर्वा पर स्थिति को देख चिन्तन बनता तब ही दीक्षित करने का प्रसंग बनता था। ऐसा था उनकी निस्पृह साधना का स्वरूप !

वे बड़े निरपेक्ष योगी भी थे। संघ के उत्थान में प्रतिदिन सेवा देने को वे तत्पर रहते थे, फिर भी कभी यह अपेक्षा नहीं की कि समाज उनका सही मूल्यांकन करे।

आश्चर्य की बात है कि 1952 से आचार्यदेव ने वह चिन्तन और वे विचार जो समय-समय पर उभरते थे, डायरी या कागज़ों में नोट कर रखे थे, परन्तु अहमदाबाद चातुर्मास तक समाज में किसी को भनक तक नहीं लगी। दीक्षा के पश्चात् वह डायरियाँ मेरे पास थी। मैंने ही कुछ चंचलतावश कहिये जब अहमदाबाद में प्रसंग चला तो संतों के बीच कह दिया कि कैसे-कैसे गहन आध्यात्मिक चिन्तन-बिन्दु उन पृष्ठों में भरे पड़े है, तब शांतिमुनिजी ने उन्हें देखा और उनकी उपयोगिता समझी और उन्हें पुनः लिपिबद्ध करने की स्थिति बनी, जिससे वे समाज के सामने आ सके। पर आचार्यदेव ने कभी एक शब्द भी नहीं कहा कि मेरे इतने प्रवचन हैं, इनका पुनर्लेखन होना चाहिये। इनकी छपाई होनी चाहिये, बल्कि मैं तो यह कहूँ कि उनके मन में कभी ऐसी स्फुरणा भी नहीं हुई। ऐसी थी उनकी निस्पृहता। कोई अपेक्षा नहीं।

यहाँ एक बात मैं स्पष्ट कर दूँ कि यदि अपेक्षा कर जीयें तो जीवन दूभर हो जाता है। हर कदम पर मैं यह विचार करूँ कि मेरा मूल्यांकन हो तो मेरा जीना हराम हो जायेगा। तब मैं प्रत्येक प्रवृत्ति का मूल्य पाना चाहूँगा कि मैंने संघ के लिए इतना जो कुछ कर रखा है उसका मुझे मूल्य मिलना चाहिये। यह केवल आपकी नहीं, किन्तु हम सबकी भावना होती है। पर विचार कीजिये कि यदि किसी कार्य का

मूल्यांकन करें और वैसा पारितोषिक-पारिश्रमिक चाहें जैसा पारिश्रमिक किसी मजदूर को नहीं दिया जाता है तो यह कितनी ओछी बात होगी। मूल्य या पारिश्रमिक घर के सदस्य को नहीं दिया जाता है। जो व्यक्ति संघ को अपना घर समझता है, वह कह नहीं सकता कि मैं जो काम कर रहा हूँ, उसका मूल्य मुझे मिलना चाहिये। यदि कहता है तो क्या संघ को घर समझा है ? घर समझकर चले तो ऐसे विचार भी मन में नहीं आ सकते।

आचार्यदेव ने संघ को घर माना। जीना है, मरना है संघ के लिए, क्योंकि संघ के उपकार से उऋण नहीं हुआ जा सकता। यदि हम युगों तक जन्म लेकर सेवा करें तो भी शास्त्रकार कहते हैं कि उऋण हो नहीं पाएंगे। हम माता-पिता व धर्म गुरु का उपकार मानते हैं, माता-पिता जीवन देते हैं; तो धर्म गुरु जीवन का निर्माण करते हैं, तो कैसे उनसे उऋण हो सकते हैं ? कोई कैसा भी विचार रखे पर उनकी चित्त में जो स्पष्ट छवि रही होती है वह कभी धुंधली नहीं हो सकती। मुझे याद आ रहा है- गोगेलाव में पू. गणेशाचार्य का चातुर्मास था। उस समय एक समिति थी कि जो भी साहित्य सर्जना हो वह पहले साहित्य-समिति के पास भेजा जाये। वह समिति उपयुक्त समझे तो प्रकाशित किया जाये अन्यथा निरस्त कर दिया जाये। आईदानजी महाराज ने शायद एक लेख लिखा था। वह प्रकाशित हो गया था। बूटारी और कुचेरा के बीच मिलन हुआ। पूछा- तुम्हारे नाम से एक लेख प्रकाशित हुआ है। संघ की मर्यादा है कि समिति की आज्ञा के बिना प्रकाशन नहीं हो सकता। ये कैसे हुआ ? उत्तर मिला- "भाव बने तो लिख दिया।" तो प्रायश्चित्त लो। उनके दिमाग में जो कुछ भरा था, उसके पीछे बड़ा षड्यंत्र छिपा था। 'उस षड्यंत्र में आचार्यश्री को फँसाने का प्रयत्न था कि वे शिष्य के शिथिलाचार का पोषण कर रहे थे व दूसरों पर प्रतिबंध लगा रहे थे। संत ने कहा- "आप मेरे गुरु के नाते देते हैं तो मैं प्रायश्चित्त लेने को तैयार हूँ, पर यदि श्रमण संघ के उपाचार्य के नाते देते हैं तो मैं नहीं लेता।" आप कहेंगे कैसे भी दें, प्रायश्चित्त ही देना है, पर उसके पीछे रहस्य था कि आचार्यदेव श्रमण संघ में रहकर भी संप्रदाय को पोषण कर रहे हैं। आचार्यदेव ने कहा- "नहीं, मैं श्रमण संघ के उपाचार्य के नाते प्रायश्चित्त

देता हूँ। उत्तर मिला- तो मुझे स्वीकार नहीं है।" "नहीं तो, संबंध -विच्छेद।" एक क्षण लगा। जैसे उस समय के निर्णय में पू. गणेशाचार्य अटल थे, वैसे ही आचार्यदेव ऐसे विषयों पर अटल रहते थे।

भोपालगढ़ में आचार्य श्री हस्तीमलजी म.सा. के साथ मिलन हुआ 26.01.1978 को। तीन-तीन दूरियाँ दूर हुई। वंदन व्यवहार मर्जीयात। एक पाटे पर व्याख्यान। एक संवत्सरी यद्यपित संवत्सरी को लेकर सांप्रदायिक धारणा की बात सामने भी आई, पर पूज्य आचार्य श्री नानालालजी म.सा. ने स्पष्ट विचार रखे कि इस मामले में अपने को पूर्ण उदार दृष्टिकोण रखना है। कुछ बातें सामने आई। उसके पश्चात् भी चिंतन-मनन चलता रहा। 29 फरवरी को कतिपय कलमों पर मसविदा तैयार किया गया और परस्पर हस्तान्तरित किया गया। आचार्यदेव उस प्रेम संबंध के कारण कहीं चातुर्मास भी खोलते तो आगार रखते हुए। जीवन की संध्या में जिस समय चल रहे थे रत्नहितैषी श्रावक संघ के अध्यक्ष उपस्थित हुए। कहा- "कोई निर्देश।" आचार्यदेव ने निर्देश दिया कि "दोनों सम्प्रदायों का जो प्रेम संबंध चल रहा है, वह प्रगाढ़ हो।" देखिये प्रेम संबंधों के प्रति कैसी समर्पित भावना थी। जिन-जिन बिन्दुओं पर विचार हुआ था उसके आधार पर ही आचार्यदेव ने कदम बढ़ाये। हम भी चिन्तन-मनन करें। ऐसे आचार्यदेव का सान्निध्य हमें मिला था। उनके गुणों में से जितने जो गुण लेकर जो भी जीवन सजाने का प्रयत्न करेगा वह धन्य होगा। पूर्व वक्ताओं ने उन गुणों पर विस्तार से प्रकाश डाला है। मैं पहले ही कह चुका हूँ कि मेरी सामर्थ्य में पूरे समुद्र की थाह पाना नहीं है, पर जितना हम ले सकें वह ग्रहण करने का प्रयास करें। इस पर चिन्तन-मनन करें कि आचार्यदेव के जीवन प्रसंगों से हम क्या प्राप्त कर सकते हैं। कैसे हमारे जीवन के भीतर उनके गुणों का प्रवेश हो जाये कि जीवन को सुदृढ़ता प्राप्त हो, यह चिन्तन होना चाहिये।

संघ समर्पणा वर्ष के संबंध में कई बातें सुना दी गई। संघ गीत भी सामने आया कि प्रतिदिन उसका गान हो। संघ-सेवा तथा धर्मपाल प्रवृत्ति की बातें भी हुई, परन्तु मैं कहना चाहता हूँ कि हमारे भीतर जो शक्ति है, उसका हम समायोजन करें। ज्यादा नहीं, तो कम से कम साल में 5 दिन ही दें, क्योंकि ऐसा करने से प्रत्यक्ष अनुभूति होती है। जो

योगदान देते हैं, वे यदि उनके बीच रहकर अनुभव करें कि कैसे उनके जीवन को और अधिक उन्नत और विकासमान बनाया जा सकता है, तो निश्चित रूप से ठोस परिणाम निकल सकते हैं।

आचार्य नानेश के जीवन से संबंधित अनेक प्रसंग मेरे मस्तिष्क में घूम रहे हैं। कौन-कौन से सुनाऊं निर्णय करना कठिन है। उनके जीवन से संबंधित एक महत्त्वपूर्ण बात तो यह थी कि जिस समय राजस्थान और महाराष्ट्र के स्थानकवासी समाजों में आचार्य श्री गणेश के स्वर्गारोहण के पश्चात् कोई आचार्य नहीं रहा था, एकमात्र आचार्य श्री नानालालजी म.सा. ही थे, जिन्हें शांत-क्रांति के अग्रदूत पू. गणेशाचार्य ने पदवी प्रदान की थी। तब उन्होंने एकमात्र आचार्य के रूप में प्रभु महावीर द्वारा संकल्पित आचार्य परम्परा को सुरक्षित रख उसे अक्षुण्ण बनाये रखा। श्रमण संघ के आचार्य श्री आत्मारामजी म.सा. का स्वर्गवास हो चुका था और उसके 14 महीने पश्चात् उपाध्याय श्री आनंदऋषिजी म.सा. को आचार्य बनाया गया था। उससे पूर्व वे उपाध्याय रूप में रहे थे। उसके बाद तो कई आचार्य बने, किन्तु पूरे स्थानकवासी समाज को एक आचार्य के रूप में नेतृत्व देना या यों समझिये कि आचार्य परम्परा की कड़ी को जोड़े रखना बड़ी बात थी। यह काम आचार्यश्री ने कुशलतापूर्वक किया।

अंतिम समय के कुछ संस्मरण भी मेरे मस्तिष्क में कौंध रहे हैं। दो महीने पूर्व ही दवाई से उन्हें अरुचि हो चुकी थी। डॉक्टर से चैक कराने के लिए वे तैयार नहीं होते थे। अधिक बातचीत नहीं करते थे। बच्चे आते थे तो बच्चों में रम जाते थे, क्योंकि उनके दिल में सरलता-सहजता थी। बड़ों के दिमाग में तर्क होता है, सरलता कम होती है। इसलिये उनसे वे बचते थे। वास्तव में वे तिकड़मबाजी से बचना चाहते थे। अंतिम समय में चाहते थे पूर्ण शांति में आत्म-समाधि। बच्चों में सहजता-सरलता के भाव होते हैं इसलिए बच्चों का चित्त निर्मल होता है। इसीलिये उनके साथ वे घुल-मिल जाते थे। अंतिम क्षणों में भी लक्ष्य के प्रति उनमें सजगता थी। संथारे के समय उनकी शांत-प्रशांत अवस्था रही। वह स्थिति अत्यन्त विशिष्ट थी। न हिचकी, न उल्टी, न ही श्वांस की गति तेज। ऐसा लगता था जैसे कोई महायोगी योग निद्रा में प्रवेश कर

रहा हो। हम चित्रलिखित से खड़े देख रहे थे। पूर्णतः शांत ! धीरे, धीरे, धीरे, धीर दाहिनी ओर की आँख खुली। एक बार पलक उठी, फिर गिरी.... !!

यह प्रकृति का विधान है। शरीर जितने समय के लिए प्राप्त हुआ है उतने ही समय तक रहता है, क्योंकि उसे अनुबंध से लाया गया होता है। आप जैसे सरकार से लीज़ पर मकान लेते हैं वैसे ही यह शरीर है, यह भी लीज़ पर मिला हुआ है। लीज़ समाप्त होने पर इसे छोड़ना पड़ता है। चाहे तीर्थंकर हों या कोई भी प्राणी। ऐसा नहीं कि शरीर छोड़ना न पड़े। किन्तु छोड़ने से पूर्व जो विदेह की अवस्था में आ जाये वही महान् है।

आचार्यदेव का आचार्य पद के रूप का प्रसंग उदयपुर में आया था। पहला पडाव हुआ था कुंदनसिंहजी खिंवेसरा के बंगले पर, जहाँ पहला विहार कर पहुँचे थे। उनकी भावना थी कि पहला पड़ाव वहाँ हो। पहला पड़ाव वहाँ मधुवन में हुआ और अंतिम पड़ाव उदयपुर के छात्रावास में। वहीं पर देह का विलय कर चिरशांति को प्राप्त किया। देव विमान में वे पधारे। हम ऐसा विश्वास करते हैं कि उनकी आत्मा सुलभ बोधि बने और तीर्थंकरों का उसे सान्निध्य प्राप्त हुआ हो, क्योंकि कहा है कि जो अग्लान भाव से संघ की सेवा करता है वह तीन भाव का अतिक्रमण नहीं करता। उस सूत्र पाठ के आधार पर हम कह सकते हैं कि शीघ्र ही मुक्ति का वरण कर वे शाश्वत सुख को प्राप्त करेंगे। संघ सेवा के इसी रूप को मैं पुण्य स्मरण के इस अवसर पर रेखांकित करना चाहता हूँ। संघ-सेवा के प्रति निष्ठा रहे और संघ समर्पणा गान का सामूहिक रूप से एक वार प्रतिदिन घर में गान हो, यह सुनिश्चित करें। घर में एक-एक सदस्य घुलमिल कर रहने का प्रयत्न करें। संघ का मतलब मात्र समूह नहीं समझें। संघ तो गुरु-गरिमा को धारण कराने वाली ऐसी इकाई है जिसमें ज्ञान, दर्शन, चारित्र का मंगलकारी त्रिवेणी संगम दृष्टिगत होता है इसलिये संघ-सेवा के क्षेत्र में अपना निश्चित अवदान दें। ऐसा यदि निश्छल भाव से कर सकें तो यह भव सार्थक हो सकता है।

16.10.2000

❖ ❖ ❖

# 20. आगमधर गुरु समकिती

### शांति जिन एक मुझ विनति।

बिना कारण के कार्य संपन्न नहीं होता है। कोई भी कार्य हम करें, उसके पीछे कोई कारण निश्चित रूप से होता है और कारण होता है, तभी कार्य संपादित होता है। वैसे एक कारण और कार्य व्यवहारिक होता है और दूसरा नैरयिक होता है। यद्यपि व्यवहार में हमें लगता है कि कारण और कार्य अलग-अलग समय में संपन्न होते हैं, परन्तु वैसा होता नहीं है। इस प्रकार यदि कार्य है धर्मस्थान में आना तो कारण हो गया चलना। ये व्यवहारिक रूप है, किन्तु नैश्चयिक रूप से प्रत्येक क्षण में कारण-कार्य की व्याख्या घटित हो रही है। जिस समय में कारण होता है, उसी समय में कार्य संपन्न होता है।

भले हम शांति ही प्राप्त करना चाहते हों तो वहाँ भी कारण की अपेक्षा रहती है। उसमें पहला कारण बताया है- जीव का जो जिनेश्वर है उन पर, उनकी वाणी पर एवं जो भी भाव उन्होंने व्यक्त किये हैं या जो प्रवचन उन्होंने दिये हैं उन्हीं के अनुसार श्रद्धान होना। दूसरा कारण गुरु के रूप में लिया गया है-

### आगमधर गुरु समकिती....।

गुरु आगम को धारण करने वाला होना चाहिये। विचार करें कि आगम को धारण करने की आवश्यकता क्यों पड़ती है ? आगम की व्याख्या भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से मैं कर चुका हूँ। ज्ञान को भी आगम कहा गया है, क्योंकि ज्ञान से ही ज्ञेय का बोध होता है। मति-श्रुत ज्ञान हमारे अंदर होते हैं। उन्हीं के आधार पर हम ज्ञेयकर ज्ञान कर पाते हैं। ज्ञेय में अस्तित्व और नास्तित्व के रूप में दोनों गुण होते हैं। बातें कुछ गूढ़ हैं, पर कुछ लोगों को रुचिकर भी लग सकती हैं।

समझ लीजिये यह ओघा है। यह कथन अस्तित्व गुण के आधार से है, किन्तु इसे यह भी कह सकते हैं कि यह पूंजणी नहीं है, पाटा नहीं है। इसमें किसी पदार्थ का निषेध निरुपित करना होता है। इसे उसके भीतर रहे नास्तित्व गुण के आधार पर कह सकते हैं- यह अमुक है, रजोहरण ही है, यह पूंजणी नहीं है। ऐसा जो नैश्चयिक व्यवहार होता है, वह प्रत्येक पदार्थ में अस्तित्व-नास्तित्व गुण के आधार पर निरूपित किया जाता है। संसार की प्रत्येक वस्तु में ये दोनों गुण विद्यमान होते हैं। अन्यथा इसे यही कहा जायेगा- यह ओघा ही है। नास्तित्व गुण नहीं है तो किसी के माध्यम से निषेध नहीं किया जा सकता है। इसे एक उदाहरण से समझिये। एक भाई दर्शनार्थ आ गया। समझ लीजिये 'गौतममुनिजी' को वंदन कर किया और कहा- "माताजी वाला महाराज मत्थएण वंदामि।" माताजी वाले हैं 'अक्षयमुनि'। वह अक्षयमुनि मानकर वंदन कर रहा है। पास वाले ने कहा- "ये बीकानेर वाले हैं।" इस प्रकार इनमें अस्तित्व गुण है तथा इनमें नास्तित्व गुण भी है। यह अस्तित्व-नास्तित्व भाव समझ में आ जाना चाहिये। यह जैन सिद्धान्त की मूल आधार भूमि है।

लोग कहते हैं स्याद्वाद् हमारी समझ में नहीं आता। यही तो स्याद्वाद् है। स्याद् अस्ति, स्याद् नास्ति.....। यह दर्शाता है कि प्रत्येक पदार्थ में एक नहीं अनेक धर्म हैं, किन्तु जिस धर्म की व्याख्या की जा रही है, उस समय वही उपादेय है या उसी को व्यक्त करना है। इसलिए उस समय उस धर्म की प्ररूपणा करते हैं। यह अवस्था होती है ज्ञान के आध ार पर। किन्तु ज्ञान की आवश्यकता कहाँ होती है ? ज्ञेय को जानने के लिए। ज्ञेय का तात्पर्य है जिसे जाना जाता है। जितने भी पदार्थ होते हैं, वे जानने योग्य हैं, जाने जाते हैं। यथा- पाटा, घड़ा, ओघा, कपड़ा आदि। वैसे ही आत्मा है, पुद्गल है, वह भी जाना जाता है। वे सारे के सारे ज्ञेय हैं। उन सबका बोध कराने वाला ज्ञान है। तो ज्ञान के माध्यम से आत्मा उन्हें जानता है। ज्ञान हो गया माध्यम, किन्तु ज्ञान मात्र पदार्थ का ज्ञान ही नहीं कराता, चित्त को एकाग्र करने में भी ज्ञान का बहुत बड़ा योग रहता है। यदि ज्ञान नहीं है तो चित्त को एकाग्र भी नहीं कर पायेंगे। इस बात की बहुतों को शिकायत रहती है। कहते हैं- मन एकाग्र नहीं रहता। तो

उसके लिए ही यह इलाज बताया जा रहा है कि इलाज कीजिये। ज्ञान की प्राप्ति करेंगे तो वह मन को एकाग्र बनाने वाला भी बनेगा।

मन एकाग्र नहीं होता है, यह तर्क भी अपने आप में सही नहीं है। मन एकाग्र होता है। आप पहुँचे सिनेमाघर में, पर्दे पर कोई रोचक दृश्य आ रहा होता है तो पास वाले या दूसरे क्या कर रहे हैं, इसका ज्ञात नहीं होता है। कभी रोकड़ में गड़बड़ हो जाये, लगे कि कभी भी चैकिंग आ सकती है, ठीक करने लगे हों तो एकाग्रता आ जाती है या नहीं ? उस कार्य को महत्ता दी तो एकाग्रता आ गई। वैसे ही यदि महत्ता तत्त्वबोध को दें तो हो नहीं सकता कि मन न लगे। न लगे तो धीरे-धीरे लगाना पड़ता है। जैसे बालक प्रारंभ में स्कूल जाना नहीं चाहता, पर धीरे-धीरे आदत डालते हैं। पहले टेढ़ी लकीरों का, फिर अक्षर लिखने का अभ्यास कराते हैं। फिर जब किताबें पढ़ने लग जाता है, पढ़ने में रुचि जम जाती है तब कहें कि आज नहीं जाना, तो कहेगा- "मैं अध्ययन छोड़ नहीं सकता" और जो ट्यूशन करते हैं या कोचिंग क्लासों में अध्ययन करते हैं उन्हें कितने भी आवश्यक कार्य हों तो भी चाहेंगे कि वह समय न निकले। आज का पाठ निकल गया तो कल समझूंगा कैसे ? जैसे अध्ययन के प्रति लगाव बना वैसे ही तत्त्वबोध के प्रति रुचि या एकाग्रता नहीं भी बनी है तो भी तत्त्वज्ञान प्राप्त करते-करते अवगाहना प्रारंभ हो जाये तो फिर देखो रुचि अवश्य बन जायेगी। फिर उसमें लगे तो इतनी तल्लीनता आ जायेगी कि पास में कोई ढोल-शहनाई भी बजाये तो भी ध्यान विचलित नहीं होगा। चित्त की ऐसी एकाग्रता ज्ञान में सहायक होती है। ज्ञान चित्त को दृढ़ करता है। पहले की अवस्था को साफ करता है। चित्त में पकड़ नहीं होने देता तो वह निर्मल बना रहता है, सेफ बना रहता है। परन्तु जब-जब हम पकड़ने का प्रयत्न करते हैं, किसी को चित्त में स्थान देते हैं, तब-तब उससे कुछ-न-कुछ अर्जित करते हैं। ऐसे ही कर्मों का अर्जन भी करते हैं, परन्तु यदि चित्त पर नहीं जमाया तो कर्मों का आदान नहीं होता। कितनी सरल प्रक्रिया है, किन्तु होता ऐसा है कि हमारा अभ्यास विपरीतता का बना हुआ है। इस कारण उस दिशा में हम बढ़ नहीं पाते।

एक सत्य घटना है। किसी बड़े अपराध में पकड़े गये अपराधी को काला-पानी की सजा दी गई। क्या होती है काला-पानी की सज़ा ? अनुभव शायद ही किसी को हो, किन्तु कहते हैं- काल कोठरी में रखा जाता है। अंधकार-परिपूर्ण अवस्था होती है। प्रकाश रहता हो या थोड़ा प्रकाश रहता हो, पता नहीं। उसे 14 वर्ष वहाँ रखा गया, फिर जब बाहर निकला, खुले मैदान में आया तो उसकी आँखें चौंधियाने लगीं। कहने लगा- यहाँ रहना पसंद नहीं, वही स्थान अच्छा था। जैसे वहाँ रहते-रहते अभ्यास हो गया था वैसे ही संस्कार बन गये थे, पर वह समझ नहीं पा रहा था कि वह सजा थी। वैसी ही संसार की स्थिति है। विषय-वासना को काल कोठरी का रूप कहें या किंपाक फल जैसा विषमय बतायें, पर सत्य यह है कि उसमें से निकल नहीं पाते। थोड़ा निकले तो लगता है- कहाँ आ गये ! बार-बार उसी विषय-वासना रूपी काल कोठरी में उलझने का प्रसंग आ जाता है और जो विषय-वासना में उलझता है, उसे काल कोठरी में आना पड़ता है। हमारी जन्म-मरण की प्रक्रिया क्या है ? माता का गर्भ कोठरी जैसा है। किसी को ज्ञान हो तो लगेगा अब नहीं आना। हे भगवान ! बाहर निकल गया तो रोज भक्ति करूँगा, मनुष्य जन्म सफल बनाऊँगा, किन्तु जब निकल गये धीरे-धीरे बचपन का ज्ञान छूटा, परिवार का मोह-ममत्व जुड़ा कि सब भूल जाते हैं। वही बातें रह जाती हैं, क्योंकि बार-बार का अभ्यास बना हुआ होता है। अनादि का अभ्यास है, इतनी जल्दी छेदन करना कठिन होता है, परन्तु छेदन किया जा सकता है। करने वाली आत्मा करती भी है, पर उसके लिए पुरुषार्थ जगाना पड़ता है। अनादिक संबंध को एक धक्के में हटा सकते हैं, पर स्थिति यह है कि धक्का लगा नहीं पाते। दूसरों को कितना ही सुना दें, पर अपनी आत्मा को नहीं सुना पाते, क्योंकि वहाँ पुरुषार्थ जगाना पड़ता है। वह पुरुषार्थ यदि चित्त की एकाग्रता बने तो जल्दी भी हो सकता है।

हमसे ध्यान के लिए कहा जाता है, किन्तु ध्यान के पूर्व ज्ञान होना चाहिये। यदि ज्ञान नहीं है तो चित्त भ्रमित हो जाएगा, एकाग्रता नहीं बनेगी। ज्ञान हो गया तो फिर ध्यान उसमें आ ही जायेगा। प्रयास करने की आवश्यकता पड़ेगी। जैसे ही तत्त्वज्ञान के पानी में उतरे कि पैर चलेंगे

नहीं, तैरने लग जाएंगे। फिर ये नहीं पूछना पड़ेगा कि पैर कैसे चलाऊँ, क्योंकि ज्ञान प्राप्त हो चुका होता है। नदी में उतरे की हाथ-पैर चालू हो जाएंगे। वैसे ही हम ध्यान की अवस्था में निमज्जित हो जाएंगे। इस प्रकार की अवस्था आगमधर की होनी चाहिये। इस प्रकार की अवस्था होगी तो ही वे दूसरों को आगमक ज्ञान दे पायेंगे और शांति प्रदान कर पायेंगे, नहीं तो आप जानते हैं-

**आप डूबे पांडियो, ले डूबे जजमान**

ऐसा होगा तो न गुरु तिर पायेगा, न चेला तिर पाएगा। यदि कोई जिज्ञासु है, मुमुक्षु है तो गुरु का क़र्त्तव्य है कि उसे सहयोग दें। मुमुक्षा बढ़ाये, जिज्ञासा प्रबल करें। वह प्रबल हो जायेगी तो वह भी तैरने में समर्थ हो सकेगा।

भगवान महावीर के पास जितने दीक्षार्थी पहुँचे उनसे उन्होंने क्या कहा ? कहा-

**अहासुहं देवाणुप्पिया, मा पडिबंधं करेह**

प्रतिबंध, रुकावट नहीं। अब देर नहीं करनी। यदि पुरुषार्थ जगा है तो सार्थक करो। जैसा सुख हो, वह करो। निश्चित है कि सुख किसमें है। जो इन भावनाओं से बढ़ता है उसे पहले से ही सुख का आभास हो जाता है। बिना सुख के आभास के लिये ली जाने वाली दीक्षा में संभव है कि कोई फिसल जाये, रुक जाये, किन्तु जो समझता है कि इसमें इतना सुख है वह क़भी रुकेगा नहीं। कोई करोड़पति हो, लखपति हो, धन-जन से संपन्न हो, उसकी सुख की कल्पना कपोल-कल्पित हो सकती है। बड़े-बड़े करोड़पतियों की दयनीय दशा देखी गई है। मेरे क़हने की आवश्यकता नहीं है, आप स्वयं जानते हैं और अनुभव करते हैं। दुनिया के मंच पर ऐसे दृश्य भी देखने में आते हैं कि परिवार में 50 सदस्य हों, पर संभव है कि किसी को फुर्सत नहीं मिले कि उसके पास बैठकर सांत्वना दें या सेवा-सुश्रूषा में योगदान दे। ऐसा नहीं होता ये तो नहीं कह सकता, पर आज के युग में व्यक्ति इतना व्यस्त है कि उसे मरने की फुर्सत भी नहीं है। उठते ही भागने की अवस्था रहती है। ऑफिस को

भागना है, दुकान को भागना है, पता नहीं कहाँ-कहाँ भागना होता है। वस्तुत: शांति की चाहना है तो समर्थ गुरु की खोज करें। कवि ने कहा भी है-

**आगमधर गुरु समकिती.....।**

ऐसे गुरु की खोज करें जो आगमधर हो।

कहीं-कहीं ऐसा भी कहा गया है कि शिष्य गुरु की खोज कर नहीं सकता, किन्तु गुरु को शिष्य की खोज करनी पड़ती है। यह बात भी महत्त्वपूर्ण है। शिष्य अंधकार का रूप है तो गुरु प्रकाश का पर्याय है। वह आगमधर का रूप है। अंधकार प्रकाश को ढूंढ नहीं सकता, किन्तु प्रकाश अंधकार को ढूंढकर मिटा सकता है। इसलिए कहा जाता है कि गुरु को शिष्य की खोज करनी पड़ेगी। शिष्य में इतना ज्ञान नहीं होता कि वह गुरु की खोज कर सके, किन्तु गुरु में ज्ञान होता है। वह शिष्य के भीतर की अवस्था का ज्ञान कर सकता है, इसलिए शास्त्रकार कहते हैं-

**सुट्ठुदिण्णं, दुट्ठुपडिच्छियं.....।**

जो वाचना का अधिकारी है, उसी को वाचना देनी चाहिये। जो अधिकारी नहीं हो उसके लिए कहा गया है कि उसे नहीं देना। यदि परिस्थितिवश देनी पड़े तो शाब्दिक या शब्द का अर्थ व्याख्यायित किया जा सकता है, लेकिन उसके भीतर का अंतर रहस्य प्रकट नहीं किया जा सकता, क्योंकि उसकी मानसिक क्षमता उतना ग्रहण करने की नहीं होगी। कोई टाइफाइड से उठा हो और उठते ही उसे बादाम का हलवा दे दें तो क्या होगा ? वह बेमौत मारा जाएगा, क्योंकि वह हलवा पचा नहीं पायेगा। वैसे ही जिसका मनोबल क्षीण हो वह वाचना का अधिकारी नहीं हो सकता। उत्तराध्ययन सूत्र के 11वें अध्ययन में बताया गया है कि कौन अधिकारी है, किसे दी जाये। वहाँ योग्य पात्र की सम्यक् विवेचना की गई है। कहा गया है कि जिसकी मानसिक अवस्था चंचल है, जो बार-बार क्रोध करता है, जो विषय लोलुप है, अहंकार में चलने वाला है, ऐसे व्यक्ति का चित्त चंचल अथवा हिला हुआ होता है, स्थिर नहीं होता है, उसके लिये निषेध है। ऐसा व्यक्ति जिसका चित्त हिला हुआ हो उसके

चित्त का अंकन करना चाहें तो सही तरीके से हो नहीं पायेगा। एक्स-रे मशीन के सामने मरीज को रखा जाये और वह हलन-चलन करे तो चित्र सही आ नहीं पायेगा। वैसे ही यदि चंचल चित्त में वांचना दी गई तो उसका अंकन नहीं होगा। आई और गई। हमारा कार्य सुनने के बाद समाप्त हो जाता है, यह गलत है। होना यह चाहिये कि सुनने के बाद आगे बढ़ने की प्रवृत्ति भी बने।

शास्त्र में स्वाध्याय के 5 भेद कहे गये हैं- वाचना, पृच्छना, पर्यटना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा। वांचनी ली और वह चित्त में निरन्तर बनी रहे तभी जाकर पूछने के भाव पैदा होंगे, नहीं तो पृच्छा की स्थिति बन नहीं पाएगी। पृच्छा नहीं तो उस विषय की पूरी जानकारी हो नहीं पाएगी। पृच्छना जिज्ञासा का परिणाम होती है और ज्ञान की तह तक ले जाती है। उसके पश्चात् परियटना है। घर-बार की ओर परियटना से ज्ञान दृढ़ हो जाता है। अनुप्रेक्षा से ज्ञान की तह तक पहुँचा जा सकता है। तभी धर्मकथा कहने का अधिकारी बन सकता है।

आगमधर के साथ गुरु या आचार्य का दूसरा विशेषण दिया गया है- समकिती, क्योंकि कुछ आगम धारण करने वाले अभवी-अज्ञानी भी होते हैं। सारे आगमधर समकिती नहीं होते। ऐसी स्थिति में असुविधाएँ आ सकती हैं। समकिती अर्थात् जो जिनेश्वर देव द्वारा कहे विषय को तहमेव श्रद्धान करे।

**तमेव सच्चं नीसकं जं जिठोहि पवेइयं**

वही सत्य है, जो जिनेश्वर भगवन्तों द्वारा प्ररूपित किया गया है, ऐसी दृढ़ आस्था का रूप बने तो जीवन में परिवर्तन होगा, शांत भाव बना रहेगा और अशांति छू नहीं पाएगी। यथार्थ में ऐसे पुरुष का आश्रय लेकर, चित्त को वैसा बनाने का प्रयत्न करें।

बंधुओं ! हमारी आत्मा भी महावीर के साथ, तीर्थंकर देवों के साथ रही है, पर हम अवसर का सदुपयोग नहीं कर पाये। हमारी स्थिति वैसी ही बनी रही और इसी कारण हम संसार में परिभ्रमण करते रहे। अव मन में आ रहा हो कि संसार सागर से आत्मा को उबारें तो आगे बढ़ना

होगा और साधु जीवन स्वीकार करने के बाद संसार छेदन करने का पुरुषार्थ करना होगा। संसार-छेदन किससे होता है ? लोहे को काटने के लिए छैनी होती है। लकड़ी को काटने के लिए आरी होती है। ये सब साधन हैं, जो कारण बनते हैं किसी कार्य को सम्पन्न होने का। वैसे ही संसार को काटने के लिए संवर की आराधना करें, जो साधन बनेगा, कारण बनेगा और हम जन्म-मरण को छेद पाएंगे। कितनी देर लगी थी ? गजसुकुमाल ने सारे फंदे तोड़-ताड़ दिये थे एक दिन में और मरुदेवी माता, ऋषभदेव तक पहुँच भी नहीं पायीं, पहले ही कहाँ चली गई ? हमारी आत्मा में वह शक्ति है, किन्तु जगाने का पुरुषार्थ करना होगा और कर लिया तो फिर भाव बनेगा-

**है संयम सुख की खान, प्यारे जीवन में।**

**ले इसको तू पहचान, प्यारे जीवन में।।**

पहचान करके बढ़ें तो जीवन में आनंद उपलब्ध कर पाएंगे, जीवन को धन्य बना पाएंगे। शांति का सोपान पाना चाहते हैं तो आगमधर समकिती गुरु का आश्रय लेकर जीवन को आगे बढाने का प्रयत्न करें।

17.10.2000

❖ ❖ ❖

# 21. साधें मन का मौन

**शांति जिन एक मुझ विनति।**

एक व्यक्ति कहता है- "चलते चलो, बढ़ते चलो, मंजिल प्राप्त हो जायेगी।" किन्तु क्या निश्चित है कि मंजिल प्राप्त हो जायेगी ? कोई निश्चित नहीं है कि मंजिल प्राप्त हो ही जाये। चलने के पहले देखना होगा कि चल किस तरफ रहा हूँ। मंजिल की दिशा में बढ़ रहा हूँ तो मिल जायेगी, परन्तु यदि विपरीत दिशा में बढ़ रहा हूँ तो मंजिल दूर होती चली जाएगी। जगत् की जितनी भी आत्मा है क्रिया गति करती है। चलना-फिरना हम देख रहे हैं, परन्तु मन के द्वारा भी गमन होता है। मन की कल्पना दौड़ती है। शरीर कभी रुका भी मिलेगा, पर मन उन क्षणों में दौड़ता रहता है। इस प्रकार गति तो बहुत हो रही है, क्रियाएँ भी बहुत हो रही हैं, पर देखने की बात यह है कि वे मंजिल की तरफ ले जाने वाली है या विपरीत दिशा में ले जाने वाली हैं।

शांति के स्वरूप को पाने के लिये जब हम गति या क्रिया करते हैं, तब इस हेतु पर भी ध्यान रखना पड़ता है-

**आगमधर गुरु समकिती, क्रिया संवर सार रे.....।**

जिनकी क्रियाओं का सार संवर होना चाहिये, ऐसे बहुत कम व्यक्ति जान पाते हैं कि आश्रव क्या है और संवर क्या है ? यदि जान भी लेते हैं तो क्रिया संवरमय बन नहीं पाती है। अधिकांशतया आश्रव क्रियाओं में निमग्न हैं। अंगुलियों पर गिनने जितने ही मिलेंगे कि कुछ काम नहीं तो संवर ले लें। हम कुछ कर पायें या ना कर पायें, पर ध्यान रखें कि समय आश्रव में बीता जा रहा है या संवर में ? हो सकता है सामायिक कर लें, हो सकता है बहुत क्षणों तक संवर में रहें, पर ऐसा साहसपूर्वक कोई कह नहीं सकता कि मन आश्रव में नहीं गया।

क्यों चला जाता है ? मूल कारण यह है कि हमने उसे बराबर साधा नहीं है। साध लिया तो मतलब ही नहीं है। घर में गैस चूल्हा है तो क्या वह 24 ही घंटे जलता रहता है ? बहनें जानती हैं कि यदि निरन्तर जलता रहा तो टंकी खाली हो जायेगी। टंकी खाली नहीं करनी है। जितने समय काम है उतने समय चालू रखो, फिर बंद कर दो। लाईट-पंखा कभी भूल से खुला रह जाये तो बड़ी बात तो नहीं, परन्तु फिर भी बहुत से व्यक्ति बिजली का बिल ज्यादा न आये इसलिए बटन ऑफ कर देते हैं। यह दृष्टिकोण का अंतर है। दृष्टिकोण बनना चाहिये कि व्यर्थ में विद्युत् के जीवों की हिंसा न हो। ऐसा कम सोच पाते हैं। पर बिल के निमित्त से ऑफ कर देते हैं। जैसे- गैस के चूल्हे को, पंखे को निरर्थक नहीं चलने देते, आवश्यकता होने पर ही उपयोग करते हैं, नहीं तो ऑफ कर देते हैं, वैसे मन का स्विच कितने समय तक ऑफ रखते हैं ? एक ही चीज पर घंटों सोचते रहते हैं। सोचना इतना होता है इसीलिए कहा जाता है- 'मारवाड़ मनसूबा सूनी'। संकल्प-मनसूबे बहुत बनते हैं, पर करना कुछ नहीं। स्विच चौबीसों घंटे चालू रहे तो मन की शक्ति निरन्तर खर्च होती रहती है। इस प्रकार जो शक्ति व्यर्थ खर्च होती है उसे वापस पोषण न मिले, उसकी पूर्ति न हो, तो उसमें सामर्थ्य-शक्ति कहाँ से आयेगी ? इसके लिए शास्त्रकारों ने संवर/गुप्ति की प्रक्रिया बतायी है। बहुत से व्यक्ति वचन का मौन तो रख लेते हैं, पर मन का मौन रखने वाले कितने मिलेंगे ? बहुत कम। मन का मौन सध जाये तो तीर्थंकर देवों ने कहा है- ''वह मुनि हो जायेगा, चाहे कपड़े कोई भी हो।''

''मोणेण मुणि.....।'' मन का मौन किया तो मुनि बनेगा। इसलिए शांति के अभिलाषी से कहा गया है कि तू गुरु की खोज कर रहा है तो 'क्रिया संवर सार रे.....'। उनकी क्रिया यदि संवर-युक्त है, मन-मौन किये हुए हैं, तो वह गुरु नैय्या को पार उतार पाएंगे और यदि गुरु के मन में भी चैन नहीं है, वे भी आश्रव में निमज्जित हैं, तो समझ लो कि जो स्वयं मन को साध नहीं पाया है, वह तुम्हें मन साधने का या अशांत मन को शांत बनाने का उपाय कैसे बताएगा ? यदि उपाय बता दिया है तो स्वयं उसका उपयोग क्यों नहीं कर रहा है ? इसका मतलब है कि उसे स्वयं को अपने प्रति विश्वास नहीं है। जब उसे स्वयं को विश्वास नहीं

है तो सामने वाला उस पर कितना विश्वास कर पायगा ? इसलिए भक्ति जो कर रहा है, वह कितने विश्वासपूर्वक कर रहा है और किये जा रहा है, उसने उन उपायों को उपयोग में लिया है या नहीं, अनुभूति का विषय बनाया है या नहीं, यह देखना भी आवश्यक है। यह बहुत महत्त्व की बात है। जो व्यक्ति जिस मार्ग से गुजर चुका है, वही उस मार्ग की बहुत अच्छी तरह से जानकारी दे सकता है। जो व्यक्ति वहाँ गया ही नहीं, वह केवल नक्शे के या किताब के आधार पर बता सकता है, पर मार्ग में कहाँ क्या रचना है, यह बता नहीं सकता। हम शांति की बात करें और स्वयं को शांति की अनुभूति नहीं तो बात प्रभावी नहीं होगी। वह बात मायने नहीं रखेगी, क्योंकि हम उसे विश्वासपूर्वक कह नहीं पाएंगे। विश्वासपूर्वक न कहें तो सामने वाले पर उतना प्रभाव बन नहीं पायेगा, यह मनोवैज्ञानिक सत्य भी है।

आचार्य पू. श्री श्रीलालजी म.सा. ने मन का धारण किया। परिवार वाले दीक्षा के लिए तैयार नहीं थे। परिवार-वालों ने शादी कर दी, पर वे दृढ़ रहे। ब्रह्मचर्य व्रत का पालन किया। मकान से छलाँग लगा दी। भरी सर्दी में एक चादर ओढ़कर रहे। माता का मोह जबरदस्त था कि मैं तो आज्ञा नहीं देती। अन्ततोगत्वा उन्होंने स्वयं दीक्षा ले ली और संकल्प कर लिया कि जब तक दीक्षा न ले लूं, यद्यपि ले ली थी, किन्तु आज्ञा लेकर उसे विधि-सम्मत न कर दें तब तक टोंक में प्रवेश नहीं करना। ताल्लुके के अधिकारी को सूबेदार कहा जाता है। एक शहर में विराज रहे थे तो भाई ने नवाब से वारंट निकलवा दिया। जिस सभा में वे विराजे थे, जनता उपदेश का रसपान कर रही थी, उसी में नाथूलालजी बैठ गये। कहा- सूबेदार के समाचार आये हैं, वारंट है। चले गये कचहरी में। उनसे कहा गया- टोंक चले जाईये, नहीं तो हमें अपनी व्यवस्था से भेजना पड़ेगा। एक पैर पर खड़े हो गये। कहा- "सूबेदारजी ! साधु अपनी मर्जी का राजा होता है। उड़े तो कपूर को बूंटी, बैठे तो खैर की खूंटी, चाहे जहाँ विचरण करे और बैठ जाये तो कोई जबरदस्ती चला नहीं सकता।" एक प्रहर तक, एक पैर पर खड़े रहकर मन का मौन बता दिया। सूबेदार ने कहा- "ये गजब का साधक है ! मेरा सामर्थ्य नहीं। मेरे भी बाल-बच्चे हैं। तुम्हारी मिन्नतें करने से, अर्जी स्वीकार कर जाते हों तो ले जाओ।

हथकड़ी डालकर ले जाने का सामर्थ्य हममें नहीं है।'' इतना मन का मौन हो तब बात बने।

यदि मन बिखर गया तो कार्य नहीं होगा। मन का मौन सध गया तो फिर जो क्रिया बनेगी वह होगी संवर की। उसमें आश्रव का संबंध नहीं होगा। वैसे आश्रव का संबंध 13वें गुणस्थान तक है, पर आपेक्षिक दृष्टि से। क्योंकि साधु चलता है, गति-क्रिया होती है तो कुछ न कुछ आश्रव तो होता ही है। उसके बावजूद संवर की क्रिया का संबंध जान ले। पाँच समिति, तीन गुप्ति, 5 महाव्रत की सम्यक् आराधना यदि की जा रही है तो वहाँ संवर की अवस्था होती है। इन क्रियाओं में इतना बल होता है जो तुरन्त प्रभाव दिखाता है। जैसे- बैलून में गैस भरें तो वह आकाश में उड़ जाता है। बैलून की जितनी क्षमता है, उतना ऊँचा आकाश में जाता है। वैसे ही समिति-गुप्ति की, क्रिया की कोई भाव से आराधना करे तो मुक्ति में, पर कोई भाव से न करे ऊपरी रूप से करे तो भी वह देवलोक में पहुँचता है। अभवी इसी क्रिया के आधार पर नवग्रैवेयक तक चला जाता है। किस बल पर ! संवर क्रिया के बल पर। क्योंकि क्रिया भी व्यक्ति को शांति देती है। आश्रव मन को तरंगित करता है, संवर से मन स्थिर होता है। मन स्थिर हुआ नहीं कि अशांति समाप्त हो जाती है और वहाँ शांति का साम्राज्य स्थापित हो जाता है। जो संवर की क्रिया करने वाला होगा, वही संवर का उपदेश दे पाएगा।

एक अखबार में मैंने पढ़ा था कि संतों ने आह्वान किया है कि बाहर से जो संघ आते हैं उनके स्वागत के लिये। इससे कोई मतलब नहीं कि कौन लीडर है या नेता है, केवल सामायिक वाला ही स्वागत करेगा। सामायिक में करना या नहीं ? यदि सामायिक का स्वरूप ही नहीं जाने और कहे- ''आओ सा.'' और माला पहनाने लगे। तो वह स्वागत सम्यक् नहीं होगा। एक तरफ पूर्णिया श्रावक के घर सम्राट श्रेणिक आये, खबर ही नहीं पड़ी। खबर पड़ भी गई तो उठा नहीं, मन में तरंग नहीं उठी, क्योंकि संवर की क्रिया में था। कितना गहरा संबंध है क्रिया का आश्रव से ! या तो क्रिया आश्रव रूप होगी या संवर रूप। अधिकांशतया हमारा अभ्यास आश्रव में पड़ा है। उधर झट प्रवृत्ति हो जाती है, किन्तु संवर के लिए, सामायिक के लिए कहें तो चार बार सोचना पड़ता है कि महाराज,

रोज तो नहीं हो सकती। कभी करेगा भी ऊपर के मन से। ऐसे में मन कैसे सधे ? मन का मौन कैसे बने ? सामायिक की साधना इतनी गहरी है कि सामायिक में मन में तरंगे भी नहीं उठतीं। एकदम शांत-प्रशांत अवस्था है। साधना तो छोटा-सा फार्मूला है- "जिस समय जो कार्य करना है, पूरा मन उसमें लगा दीजिये।" यदि व्याख्यान में आये हैं तो पूरा मन धर्मस्थान में रहे। फिर ये मत सोचें कि फोन आया कि नहीं, ये झंझट यहाँ न पालें। इतने से फार्मूले का उपयोग कर लिया तो फिर देखेंगे अशांति के क्षणों में भी शांति में आओगे और धीरे-धीरे ये समझ ही नहीं पाओगे कि अशांति क्या होती है ? भूल जाओगे उसे।

शालिभद्र को मालूम था क्या ? उसे तो पता ही नहीं था। श्रेणिक महाराज आये और दासी ने जाकर कहा कि नाथ पधारे हैं। शालिभद्र ने कहा- "मुझे क्या करना है, माँ से कह दो, मोल-तोल कर लें।" देखो, कैसा जीव ! उसे पता नहीं सम्राट कौन है ? चाहे भोगों में हैं, पर मन विचलित नहीं है। पर हमारा मन कैसा रहता है ? घर गये तो मन दुकान, गये गये तो मन घर। जहाँ हम रहते हैं वहाँ मन नहीं रहता, जहाँ नहीं रहते वहाँ मन चौकीदारी करता है। जहाँ रहते हो वहाँ मन को रखो। इस फार्मूले का उपयोग कर लिया तो अशांति ढूंढे भी नजर नहीं आएगी। कोई पूछे तो कहेगा- अशांति ! ये होती क्या है ? उसको आश्चर्य होगा कि अशांति का भी अस्तित्त्व है ! हम मन को तरंगित कर लेते हैं और वह नई-नई अशांतियों को ढूंढ लाता है। जैसे सागर में तरंगे तरंगित होती हैं तो बाहर की चीजों को खींच लाती हैं, वैसे ही मानसिक, वाचिक, कायिक तरंगें उछाला लेकर बाहर का कचरा भर लेती है और हम अशांत हो जाते हैं।

भगवान महावीर, वे यदि साधु नहीं भी बनते तो भी मुक्ति रुकती नहीं। घर पर रहते हुए भी मन को पूर्ण संवर में रख सकते थे। जब पूर्वाचार्य पूज्य श्री श्रीलालजी म.सा. ने इतना मौन साधा तो भगवान महावीर के लिए क्या कहें ? वे मौन के पक्के थे। शांति को बरकरार रख सकते थे, पर वे जानते थे कि आने वाला युग कैसा होगा, इसलिए जितना सिद्धान्त का कथन उन्होंने किया, उतना करके दिखाया भी। कहीं व्यक्ति भ्रांति में नहीं पड़ जाये कि घर पर ही साधना हो सकती है।

दीक्षा की प्रक्रिया बतलायी जा रही है कि भगवान ने जो वस्त्र-आचरण त्यागे, उन्हें वैश्रमण देव ने श्वेत वस्त्र में धारण किया। भगवान ने पंचमुष्ठि लोच किया। उसे वज्र थाल में शकेन्द्र ने विनय भाव से स्वीकार कर द्रुत गति से क्षीर सागर में प्रवाहित कर दिया। वह दिवस था मिगसर मास की कृष्ण पक्ष की दसमी का। उस दिवस का नाम ज्योतिष के अनुसार था- 'सुव्रत दिवस'। उसके विजय मुहूर्त में जिस समय आकाश में उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र उदित हो रहा था तब दिन के चतुर्थ प्रहर में बेले के तपपूर्वक भगवान महावीर ने दीक्षा स्वीकार की। भगवान महावीर ने जिस प्रसंग में दीक्षा स्वीकार की और वर्तमान के दीक्षा प्रसंग में अंतर रहता है, क्योंकि भगवान महावीर को दीक्षित करने वाले कोई नहीं थे। वे स्वयं दीक्षित हुए थे। वह स्थिति भिन्न थी। वर्तमान में कोई स्वयं दीक्षित हो, हालाँकि ये राजमार्ग नहीं है, फिर भी यदि भावना का अतिरेक हो तो हो सकता है। श्री सुविजेताजी म.सा. के साथ जो पहले अहिंसा के क्षेत्र में काम करने वाली थीं, कुछ ऐसा ही हुआ। शरीर दुबला-पतला था, अप्रतिहत बल था। सरकार की तरफ से कत्लखानों की छुट्टी की बल्कि माँस-निषेध की घोषणा जारी हो गई थी, पर ऐसी स्थिति में भी मंदिर में बलि हो रही थी तो वे खड़ी रही कि चाहे मेरी बलि देवें पर यह बलि नहीं हो सकती। उन्होंने संघ-समाज में कार्य किया था। परिवार वालों ने कहा- बुढ़ापा है, अब क्या करोगी ? देखा, परिवार वाले मना कर रहे हैं, पर उनके मन की भावना थी कि क्रिया-संवर की आराधना कर मृत्यु का वरण करें संयम की पोशाक में ही। घर वालों को अंदेशा हो गया। रायपुर में दीक्षा थी। उन्होंने सारे घर के कमरों में ताले लगा दिये। करेंगे क्या ? देखा अब कोई गुंजाईश नहीं। वे पति के स्वर्गवास के बाद से खादी ही पहनती थीं। उसी पोशाक में जावज्जीवन के लिए सामायिक स्वीकार कर ली। परिवार वाले आये तो कहा- "मुझे छुओ मत। मैंने संयम स्वीकार कर लिया है।" उनसे पूछा गया- ऐसा कैसे हो सकता है ? कहा- "गुरुदेव का आगार है, मैंने प्रत्याख्यान कर लिये हैं। वे कह देंगे कि नहीं लेंगे, खोल दो तो खोल सकती हूँ। संघ अध्यक्ष और उनके पुत्र गुरुदेव के पास पहुँचे। गुरुदेव ने कहा- "भाई ! साधु प्रत्याख्यान की प्रेरणा करता है, वह खोलने का कैसे कहे। महाराज पौष,

दया, सामायिक पचखाते है, पलवाते नहीं है। साधु नहीं कहते प्रत्याख्यान तोड़ दो। आप जानो वे जानें। हमारा जहाँ तक संबंध है, हम अभिभावक की आज्ञा बिना दीक्षा नहीं देते।'' अंततोगत्वा गुरुदेव के चरणों में आज्ञा प्रस्तुत की, फिर विधिवत् दीक्षा संपन्न हुई। वर्तमान में दीक्षा में जो विधि होती है, वैसी तीर्थंकर देवों को करने की स्थिति नहीं रहती। तीर्थंकर देव दीक्षा पचकने के पहले- 'णमो सिद्धाणं' कहते हैं।

हम बड़े अर्थ में लेते हैं- सिद्ध भगवान को नमस्कार, पर यहीं तक बात सीमित नहीं है। दीक्षा लेने वाले अपना लक्ष्य निर्धारण करते हैं कि मैं नई क्रिया में प्रवेश पा रहा हूँ। किसलिए ? मैं स्वयं सिद्ध बनूं। मैं सिद्ध बनने के लिए हे भगवान ! आपका जो दर्पण के समान रूप है, इसलिए मैं उसी को प्रकट करने का लक्ष्य बनाता हूँ। इसी दृष्टि से वे 'णमो सिद्धाणं' कहते हैं। नमस्कार करके 'सव्वं सावज्जं जोगं पचक्खामि जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं......।' इतना-सा प्रतिज्ञा सूत्र बोला और क्या हो गया ? लिफाफे पर छाप लग गई। आज से पाप कर्म, अकरणीय, सर्व सावद्य योग का त्याग। प्रतिज्ञा से जीवन को प्रतिबद्ध किया। उस समय का दृश्य अलौकिक था। परन्तु अब समय बदल चुका है। अब वैसी परिस्थितियाँ भी नहीं हैं। यदि साधु नहीं बन सके तो इतना संकल्प तो अवश्य करें कि जिस समय खाली बैठे हैं, कोई काम नहीं कर रहे हैं, तत्काल प्रत्याख्यान तीन नवकार नहीं गिनूं तब तक 5 आश्रव का त्याग। इतना-सा उपयोग रखे तो संवर हो जायेगा। नहीं तो आश्रव चालू है। ''णमो अरिहंताणं'' से ताला खोल लो और ''णमो सिद्धाणं'' से प्रत्याख्यान। थोड़ा-सा उपयोग 24 घंटे में कितना त्याग करवा देता है। 3 टाइम खाना, चाय, पानी, नाश्ता, ये 2/3 घंटे का समय चाहिये, पर 3 के पीछे हमारे 24 घंटे खुले हैं और इतना-सा उपयोग रखा तो 2 घंटे प्रत्याख्यान में आते हैं। चिन्तन-मनन करें। त्याग भाव से आत्मा को जोड़ने का प्रयत्न करें। इससे मन का मौन सधेगा। मन के मौन से आप आत्मशान्ति के उत्तंग शिखर पर आरूढ़ हो पाएंगे। अतः मन का मौन साधने में प्रयत्नशील बनें।

18.10.2000

❖ ❖ ❖

# 22. गुरु बिन कौन बताये पथ

**शांति जिन एक मुझ विनति।**

शांति के स्वरूप को पाने के लिए जो सोपान बताये गये हैं उनका परिचय पा लेना आवश्यक है। पहला सोपान बताया है देव और उनकी वाणी, उस पर दृढ़ आस्था होनी चाहिये। दूसरा सोपान है गुरु। इस सोपान की चर्चा करते हुए स्पष्ट किया गया है कि गुरु का चयन करने में भ्रमित नहीं हो जायें। गुरु पद का दावा करने वाले गुरुओं की कमी नहीं है, परन्तु सही गुरु की पहचान आवश्यक है। ऐसे गुरु के संबंध में कहा गया है-

**आगमधर गुरु समकिती, किरिया संवर सार रे....।**

गुरु आगम को धारण करने वाला हो, उन पर आचरण करने वाला हो तथा उसका वह आचरण संवर की साधना वाला हो। आचरण क्रिया यदि संवरयुक्त नहीं है, कषाययुक्त है तो वैसी कषाययुक्त क्रियाओं से संवर नहीं होगा।

एक व्यक्ति गुस्से में आकर उपवास-वेला-तेला करता है। उसकी वह क्रिया क्या संवरयुक्त क्रिया है ? वैसे ही गुस्से में आकर कोई सामायिक लेकर बैठे तो वह सामायिक सार्थक है ? नहीं है, क्योंकि सामायिक लेकर बैठ जाना मात्र सामायिक नहीं है। ऐसे ही कोई घर से निकल जाये कि सुन-सुनकर थक गया, अतः साधु बन रहा हूँ। ऐसा व्यक्ति साधु बन भी गया, कठोर आचरण भी कर ले तो शास्त्रकार कहते हैं कि आचरण करने मात्र से सम्यक् आराधना नहीं हो जाती है। आराधना होनी चाहिये कषाय रहित। वही साधना सार्थक होती है। आराधना की क्रियाओं का परिणाम संवर आना चाहिये। यदि मैं कठोर क्रिया कर रहा हूँ, परन्तु भाव बने हैं कि लोग उससे प्रभावित हों और कहें- "ओहो !

महाराज कठोर क्रिया करते हैं'' तो वैसी क्रिया का भाव संवर के रूप में नहीं रहेगा। जिस साधना की क्रिया में इहलोक-परलोक की कामना न हो, कषाय का पुट न हो किन्तु आत्मा की सहज अवस्था हो, वही क्रिया कर्मों का विनाश करने वाली बनती है। हमसे भी कठोर साधना करने वाले अनेक मिल जाएंगे। कई तापस जेठ-वैशाख की भयंकर गर्मी में चारों तरफ पंचाग्नि जलाकर ताप लेते हैं और गरम राख उठाकर शरीर पर मलते हैं। क्या यह कठोर साधना नहीं है ? कई अरण्यवास में चले जाते हैं। परन्तु चाहे कोई अरण्यवास में चले जायें, चाहे गर्म राख शरीर पर लीपें, पर इतने मात्र से उस साधना को संवरयुक्त नहीं कहा जा सकता। ऐसी क्रिया संसार घटा नहीं सकती। कर्म की निर्जरा भले हो जाये, किन्तु कर्म का लेप निरन्तर बनता रहेगा। यह तो ऐसा हुआ कि हम कुण्ड या टंकी से एक-एक बाल्टी भरकर गंदा पानी निकाल रहे हैं, किन्तु वापस दो-चार बाल्टी गंदा का पानी अंदर आ रहा है। ऐसी स्थिति में कितना ही पानी निकालते जायें, टंकी की सफाई नहीं हो पाएगी।

कल्पना कीजिये कि नौका में बड़े-बड़े छिद्र हो गये हैं, जिनसे पानी निरन्तर अन्दर आ रहा है, जितना पानी हम निकाल रहे हैं, उससे चार गुना ज्यादा पानी अन्दर आ रहा है। ऐसी स्थिति वाली नौका कैसे तिरा पाएगी ? इसलिए विचार न करें कि क्रिया कठोर कर रहे हैं तो संवर ही हो रहा है। कवि आनन्दघनजी कहते हैं- कठोर क्रिया मत देखना, पर देखना यह कि उसके पीछे संवर का भाव कितना है। बाहर के परिवेश से उसने स्वयं को कितना दूर किया है। लोकेषणा या लोकभाव आश्रव का कारण होते हैं। आश्रव अर्थात् आ समन्तात् चारों तरफ से जिसमें स्राव बना हुआ है। यदि लोकेषणा की भावना है तो समझ लें कि चारों ओर के द्वार खुले हैं, तो निरन्तर आश्रव होगा और आत्मा भारी बनती रहेगी।

गुरु कैसा हो और क्रिया संवर की कैसी हो ? उसके आगे बताया गया है-

**संप्रदायी अवंचक सदा.....।**

आज के लोगों के लिए यह अटपटी बात होगी। आज हम कहते हैं- संप्रदाय का विलीनीकरण होना चाहिये, किन्तु संप्रदाय होता क्या है ?

सम्प्रदाय किसे मानें ? यदि बर्तन, कटोरा या गिलास नहीं है तो दूध क्या टिक पाएगा ? दूध टिकाने के लिए बर्तन की आवश्यकता होती है। वैसे ही धर्म साधना करने के लिए संप्रदाय की आवश्यकता होती है। यदि संप्रदाय आवश्यक नहीं थे तो भगवान महावीर को भी चार तीर्थों की स्थापना की आवश्यकता नहीं होनी चाहिये थी। तब उन्होंने क्यों गणधर गौतम को दीक्षित किया ? तब कहते- "तुम तुम्हारा जानों। अपना धर्म-कर्म करते रहो।" परन्तु क्या इतना निरपेक्ष भाव अपनाया था उन्होंने ? हालांकि वे निरपेक्ष थे, उन्हें कुछ लेना-देना नहीं था। पर भव्य आत्माओं के लिए वे सापेक्ष बने और चतुर्विध संघ की स्थापना की। निर्वाण से पूर्व संघ की सारणा-वारणा-धारणा के लिए गणधर सुधर्मास्वामी को गणाधिप-आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया। यह सब क्यों किया उन्होंने ? निश्चित रूप से इसके पीछे कारण रहा था कि जो मूढ़ हैं, अल्प बुद्धि हैं, वे कहीं भ्रमित न हो जायें। वे भी सही दिशा में गमन करके आत्मतत्त्व आत्मलक्ष्य को प्राप्त कर सकें। ये उद्देश्य उनका रहा था कि लोग मुझे याद करते रहें। वे तो मानते थे कि यंह तो गुणपात्रों का समूह है। संघ-संप्रदाय-धर्म को टिकाने के लिए है। यदि लोटा, गिलास, कटोरा नहीं है तो दूध आदि पेय पदार्थ टिक नहीं पायेंगे, बिखर जायेंगे। वैसे ही संप्रदाय नहीं हो तो व्यक्ति अलग-अलग बिखर जाएंगे। बिखर गये तो 'मुंडे मुंडे मतिर्भिन्ता' वाली स्थिति बन जायेगी। अलग-अलग मति की बातें हो जायेंगी। इसलिये गुरु का संप्रदायी होना आवश्यक है, किन्तु संप्रदाय का तात्पर्य समझना भी आवश्यक है।

कोई गुट या घेरा बना लेना संप्रदाय नहीं है। संप्रदाय में तो सम्यक् प्रकार से विचार का आदान-प्रदान होता है। जब ऐसी स्थिति बनती है तो साधना में चमक, रौनक आती है। वहाँ सारणा-वारणा-धारणा का भाव अपने आप में प्रकट होता है। **सारणा** अर्थात् यह कार्य करना है, इस पद्धति से करना है। कार्य का सम्यक् निरूपण सारणा है। **वारणा** अर्थात् अमुक कार्य नहीं करना है, निषेधात्मक कथन वारणा है। **धारणा** किसी विषय को मस्तिष्क में निश्चित रूप में स्थापित कराती है।

5 समिति क्या हैं ? केवल चलना ईर्या समिति नहीं है। पशु भी चलते हैं, मनुष्य भी चलते हैं, पर साधु की चलने की प्रक्रिया को ईर्या

समिति कहा है। क्यों कहा है ? पशु की या सामान्य मनुष्य की गति को ईर्या क्यों नहीं कहा है ? साधु की गति के लिए विशेषण लगाया है ईर्या समितिपूर्वक हो। ईर्या समिति की महिमा अपरंपार है। यदि ईर्या समितिपूर्वक चलने का इतना-सा संकल्प भी कर लें तो अशांति से मुक्त हो जायें। ईर्या समिति एक संकेत है- होना तो यह चाहिये कि जो कार्य करें उसमें मशगूल हो जायें। वैसे ही भगवान ने भी कहा है कि यदि चल रहे हो तो समग्र उपयोग चलने में हो। न इधर, न उधर देखें, न अगल न बगल में देखें कि किसकी दुकान है। यह भी न देखें कि दुकान में किस प्रकार के पदार्थ भरे हैं, कैसी सजावट की गई है। चलते हुए इन सबको न देखें सो तो न देखें, किन्तु मन ही मन योजना बनाता हुआ भी न चले कि आज उस गाँव में पहुँचूंगा तो व्याख्यान में क्या कहना है ? वहाँ श्रावकों से क्या-क्या वार्ता करनी है। ये योजना कहाँ तय क़रनी है और कोई काम नहीं है तो समय का सदुपयोग कर लें। और कुछ काम नहीं है तो चलते-चलते थोकड़ा गिन लें, स्वाध्याय कर लें। भगवान ने कहा- पाँच प्रकार का स्वाध्याय करता हुआ भी गमन नहीं करें और पाँच इन्द्रियों के विषय भी साधु को चलने की गति में भ्रमित नहीं करें। अर्थात् विषय में न उलझे कि सुन्दर गाना आ रहा है तो सुनने में उपयोग लगा लूं। वहाँ कहा गया है कि जो कार्य कर रहा है, उसी में पूरा उपयोग नियोजित हो। वह ईर्या निर्जरा के पुण्य बंध के साथ कराने वाली है। मुक्ति की ओर बढ़ाने वाली है इसलिए हम चिन्तन करें कि कौनसी क्रिया संवर का सार है। यदि सारणा-वारणा-धारणा न हो तो गति सम्यक् नहीं कही जा सकती। इसलिये कहा है कि गुरु का संप्रदायी होना आवश्यक है। संप्रदायी का दूसरा अर्थ है- जिसे गुरु परम्परा से साधना की विधियाँ प्राप्त है।

ईर्या में गमन कैसे करें ? शास्त्र में बताया गया है कि 'जयं चरे' कितना चलना, किस प्रकार से, इसका बोध नहीं है तो क्रिया कर नहीं पाएगा। गोचरी जाना भी साधु की क्रिया है, पर जाना कैसे, चलना कैसे ? साधु की चर्या कैसी हो ? कहा गया है- दब-दब करता न चले। गोचरी के लिए जाये तो उसके पैर ऐसे पड़ने चाहिये जैसे चोर के पैर पड़ते हैं।

चोर के कैसे पड़ते हैं ? आवाज नहीं होती। यदि हो गई तो ? तो उद्देश्य में असफल रहेगा। मैं डॉक्टर चपलोत का उदाहरण दूँ। मेरे ख्याल से बहुत कम डॉक्टर होते हैं जिन्हें शास्त्र आता हो। इन्होंने दशवैकालिक कंठस्थ कर रखा है। बचपन से ही रुचि क्रिया के प्रति रही है। डॉक्टरी करते हुए धर्म के प्रति निगाह बनाये रखना मामूली बात नहीं है। इन्हें ये सहज संस्कार आनुवांशिक मिले हैं। पंडित रोशनलालजी सा. चपलोत ने कितने ही साधु-साध्वियों को पढाया है। उनकी वृत्ति सीधी-सादी सरल भी है। मैंने स्वयं वैराग्य अवस्था में अध्ययन किया है। साधुवृत्ति के थे। मैंने कहा- "दीक्षा क्यों नहीं ले लेते ?" उनकी कुछ परिस्थितियाँ रही थीं, पर निर्मल सहज संस्कार भी डॉक्टर साहब को प्राप्त हुए हैं। इसीलिये डॉक्टरों के जीवन में रहते हुए भी कई आगमों का गहरा अध्ययन कर पाये। हम भी चिन्तन-मनन करें। चिन्तन-मनन के आधार पर विचार करें कि गुरु का संप्रदायी होना कितना आवश्यक है। सम्प्रदाय के 'वाद' को भी किंचित् व्यापक अर्थ में समझें। भगवान महावीर ने अनेकान्त की बात कही है। स्याद्वाद् की कहें या अनेकान्तवाद की, उसमें भी "वाद" है। यदि कहें "अनेकान्त" ठीक है, "अनेकान्तवाद" गलत है ? तो ? 'संप्रदाय' ठीक है पर 'संप्रदायवाद' गलत है, तो यह उचित नहीं, क्योंकि बहुत से लोग भेड़िया धसान की चाल में चलते हैं। ऐसे लोग उसके गहरे अर्थ को जान नहीं पाते हैं। जैसे राजनैतिक क्षेत्र में अलग-अलग प्रवक्ता होते हैं। प्रवक्ता वह व्यक्ति होता है जो किसी प्रसंग से संबंधित पार्टी के मत को व्यक्त करता है। यदि दो देशों में युद्ध चल रहा है तो अलग-अलग व्यक्ति कुछ भी कह दें, पर प्रवक्ता जो कह दे वह बात पार्टी की मानी जाती है। वैसे ही संप्रदायगत मंतव्य को प्रकट करना ही होता है- संप्रदायवाद ! इस प्रकार अपनी विशिष्ट रीति-नीति को प्रकट करना संप्रदायवाद हुआ। जब हम संप्रदाय को मंजूर करते हैं तो उसकी धारणा या उसके दृष्टिकोण का विलोप कैसे हो सकता है ? जहाँ संप्रदाय है तो वहाँ वाद का होना भी स्वाभाविक है। जैसे स्याद्वाद् भगवान का सिद्धान्त है तो उसके कथन के लिए सप्तभंगी को स्थापित किया गया है। कथन करने के संदर्भ में हम संप्रदायवाद को समझें। जो अर्थ ग्रहण कर लिया है, जो पकड़ लिया है, उसे छोड़ें नहीं। चाहे वह गलत ही हो तो

ऐसा मानना गलत होगा। 'वाद' गलत नहीं है पर हठाग्रह गलत है। दृढ़धर्मिता में व दृढ़धर्मी में अन्तर है। दृढ़धर्मी जानता नहीं, समझता नहीं, जाने बिना, समझे बिना पकड़ लेता है। जानकर-समझकर धर्म पर जो दृढ़ता बने वह दृढ़धर्मिता है। मैंने पहले ही अर्थ स्पष्ट किया है कि परस्पर आदान-प्रदान करें वह सम्प्रदाय। यदि सम्यक् आदान-प्रदान के लिए द्वार खुले रहते हैं तो वह खुलापन संप्रदाय के लिए रुकावट नहीं है। बल्कि कवि आनन्दघनजी कहते हैं-

**संप्रदायी अवंचक सदा**

अवंचक हो। यह नहीं कि सियार का लबादा ओढ़कर चले; ऐसा नहीं होना चाहिये। रंगा सियार होना चाहिये। कहानी जानते हैं आप रंगा सियार की। एक रंगरेज के बर्तन में सियार गिर गया, उसकी चमड़ी रंग गई। लोगों ने देखा यह तो अनूठा जीव है। उसने देखा प्रतिष्ठा जम गई। धाक जमाने लगा। कब तक चलेगी धाक ? जब तक दूसरे सियार हूऽ, हूऽऽ न करें। जैसे ही दूसरे सियार हूऽ, हूऽऽ करेंगे, रंगा सियार भी हूऽ, हूऽऽ करने लगेगा। यह वंचक का रूप है। इसलिए गुरु वंचक नहीं हो। यह न कहे कि यदि शिष्य बने तो पढ़ाऊँ, नहीं तो नहीं पढ़ाऊँ। ये कोई बात हुई ? हाँ, कतिपय ऐसे प्रसंग होते हैं, जिन्हें बिना शिष्य अवधारणा के अध्ययन नहीं करवाया जाता, उनकी व्यवस्था रखी गई है। वह वंचना का अर्थ नहीं है नीतिगत बात है। कैसे-कैसे प्रसंग बताये हैं। शांति के अभिलाषी को खोज करनी है। खोज तब तक, जब तक देव-गुरु-धर्म की खोज न हो, क्योंकि उन्हीं के सहयोग से शांति की खोज हो सकती है और उन्हें बिना खोजे शांति के डग भरे तो वे डग सार्थक नहीं होंगे। कहा भी है- गुरु बिनु कौन बताये पथ।

भगवान महावीर भी शांति के लिए साधु बन गए थे। दीक्षा लेते ही उन्हें मनःपर्यवज्ञान प्राप्त हो गया था। ढाई द्वीप में रहे, संज्ञी जीवों के मनोगत भावों को जानने में वे समर्थ हो गये थे। उनकी संयम-साधना अनोखी थी। यों तो संयम जीवन को स्वीकार करने वाले सभी साधु पाँच महाव्रतों का पालन करते हैं, परन्तु पालन में भी एक-एक साधु में अंतर होता है। होता है या नहीं ? भगवान महावीर से जब मगध सम्राट श्रेणिक

ने पूछा कि आपके इतने सारे साधु हैं इनमें महानिर्जरा-महापर्यवसान प्राप्त करने वाला साधु कौन है ? तब उन्होंने नाम लिया था- "धन्ना अणगार। क्यों ? क्या बाकी 14,000 महानिर्जरा नहीं कर रहे थे ? वे भी कर रहे थे, किन्तु जिस समय पूछा गया था उस समय वैसा कौन कर रहा था ? भगवान ने न तो गणधर गौतम का नाम लिया, न सुधर्मा का। आज की स्थिति हो तो लोग असंतोष व्यक्त करते हुए कह देते भगवान ने धन्ना का नाम ले लिया, क्या हम नहीं है ? यदि दो-चार का भी आ जाता तो कह देते- हमारी तो वहाँ पूछ नहीं। महाराज तो उन्हीं का लेते हैं, जिनसे उन्हें कुछ मतलब होता है। आप विचार कीजिये कि महाराज को सांसारिक लोकप्रियता से क्या लेना देना ? वहाँ तो श्रेणिक पहुँचा, अर्जुन मालाकार पहुँचा। उपदेश में क्या अन्तर आया ? भगवान के पास पुण्यवान आये चाहे पुण्यहीन आये, अमीर आये या गरीब आये, वहाँ तो श्रुत और चारित्र धर्म का ही कथन होगा। चार गति में आत्मा कैसे भ्रमण करती है, कैसे-कैसे कष्ट सहन करने पड़ते हैं, तब मनुष्य भव प्राप्त होता है। इसकी सार्थकता क्या है, मोक्ष मार्ग पर कैसे बढ़ सकते हैं, यह उपदेश तीर्थंकरों का होता है। चाहे बूढ़ा आये या जवान या बालक। चाहे अतिमुक्तक आये, चाहे राजकुमार आये, वे तो एक ही उपदेश देते हैं कि वह मेरा भक्त बन जाये। मुँह देखा कथन कर दिया, इसलिये उपदेश नहीं देते कि वह मेरा भक्त बन जाये। क्या करना है भक्त बनाकर ? क्या भक्त तिरायेगा ? और भक्त के मोह में पड़ गये तो भी मुश्किल हो जायेगी।

श्रेणिक महाराज ने पूछा- मैं मरकर कहाँ जाऊँगा ? बता दिया पहली नरक में। कौणिक ने पूछा तो कहा- छठी नरक में। यह नहीं सोचा कि नरक बताया तो भक्त नहीं रहेगा। यह सोचेगा, कि जब नरक में जाना ही है तो दर्शन करके क्या करना ? भगवान ने यथार्थ का कथन किया। ऐसा होता है साधु का, गुरु का चारित्र, कोई लाग-लपेट नहीं। तथ्य कथन, यथार्थ कथन, भले कोई कुछ भी सोचे। दिल तो हमारा भी चाहता है कि हम भी भगवान महावीर के अनुगामी बन जायें, किन्तु पैरों में जंजीरें पड़ी हैं, हथकड़ियाँ हाथों में पड़ी हैं। ऐसा प्रबल सांसारिक मोह ! इसीलिए चाहते हुए भी उनका अनुसरण नहीं कर पा रहे हैं। बस

दृष्टाभाव से चलते हुए देख रहे हैं। पर अणगार बनने की तमन्ना किसी की जग नहीं पाई। परिणाम यह है कि भगवान ऋषभदेव निकले तो 4000 राजकुमार साथ हो गये। भगवान अकेले जायें ये संभव नहीं ! वे भी पंचमुष्ठि लोचकर निकल पड़े। भरत ने कहा- भाई ! अभी समय है। पर वे निकल गये। भगवान महावीर भी अकेले चले थे। राष्ट्रकवि रवीन्द्रनाथ टैगोर ने तो कहा भी है- 'एकला चलो रे.....'। कहीं किसी की अपेक्षा मत करना। अकेले चलो। कदम बढ़ा लो। किसी को आना होगा तो आ जायेगा। न आये तो पीछे मुड़कर मत देखना कि कोई आ रहा है या नहीं। ऐसी साधना प्रत्येक राही का लक्ष्य होना चाहिये। हमें मुस्तैद चलना है। कौन सहयोग करेगा, कौन नहीं, यह भूल जाएँ। तुम्हारे दो पैर है। गाड़ी की अपेक्षा करने वाले को कभी मंजिल मिले ना मिले, पर पैरों से कदम बढ़ाते चलते चलो। घबराने की बात नहीं, मंजिल अपने आप आ जायेगी। इसी तरह निस्पृह निरपेक्ष भाव से बढ़े चलो तो शान्ति स्वतः मिल जायेगी, परन्तु ध्यान रखना अशांत मन से बढ़ते रहोगे, अपेक्षाएँ रखकर बढ़ते रहोगे, आशंकाएँ लिये बढ़ते रहोगे तो संशय बना रहेगा। अशांत मन को कहीं स्थिर करना पड़ता है, कहीं आस्था जगानी पड़ती है, किसी के प्रति निस्पृह श्रद्धा-भाव रखना पड़ता है। जब ऐसी आस्थामयी मानसिकता बनती है, तब मन स्वतः ही शान्त हो जाता है, तब सब आवेग और आशंकाएँ समाप्त हो जाती हैं, तब तन, मन, आत्मा सब परमशान्ति का अनुभव कर पाते हैं, तब सभी ओर शान्ति ही शान्ति होती है। मन की ऐसी अवस्था पाने के लिये आगमधर गुरु की पूर्ण समर्पण भाव से शरण ग्रहण करो- तिर जाओगे।

19.10.2000

# 23. पाथेय संग ले यायावर

**शांति जिन एक मुझ विनति।**

घर का कोई सदस्य जब यात्रा की तैयारी करता है तो परिवार वाले उसे कुछ पाथेय देना चाहते हैं, ताकि मार्ग में उसे भूख नहीं सतावे और प्यास का कष्ट भी उठाना नहीं पड़े। अन्य आवश्यक साधन जुटाने का भी वे प्रयत्न करते हैं। यदि यात्रा करने वाला सदस्य प्रथम बार ही यात्रा कर रहा हो, तो अन्य हिदायतें भी देते हैं। कहते हैं- "देखो ध्यान रखना, यात्रा सुगम नहीं होती। सावधानी रखनी पड़ती है। चोर-लुटेरे, रास्ते चलते हुए को ठगने की कोशिश भी करते हैं। देखना, कहीं ऐसा न हो कि तुम ठगे जाओ।" उसे सचेत भी करते हैं- "पॉकेटमारों से बचना, ऐसे ही मत वैठे रह जाना, सोये भी मत रह जाना। कभी गाड़ी बदलनी भी होती है। सोये रह गये तो उसी में रह जाओगे। मंजिल तक पहुँच नहीं पाओगे।" ऐसी कई हिदायतें घर के सदस्य जो अनुभवी होते हैं, उसे दिया करते हैं।

शांति की प्राप्ति के हम भी यात्री हैं। हम शांति की खोज में निकले हुए हैं। हमें भी ऐसी ही हिदायतें दी जा रही हैं। हमसे कहा जाता है कि तीर्थंकर देवों ने जो तत्त्व निरूपण किया है, उस पर अटल आस्था रखना। पर यहाँ भी वैसा ही होता है जैसा किसी यात्रा में हमारे साथ होता है। जहाँ हमें जितना विश्वास करना होता है उतना ही करते हैं। जहाँ सावधानी नहीं होती है वहाँ विश्वास करते हुए भी सावधान नहीं रह पाते हैं, पाँव फिसल जाते हैं। आप जानते हैं कि एक वार की फिसलन कहाँ गिरा देती है। एक चींटी कण लेकर चढ़ती है, गिर जाती है, फिर चढ़ती है, फिर गिर जाती है। ऐसा एक वार नहीं अनेक वार होता है। ऐसा हो जाये तो सोचिये कि पहले की चढ़ाई कितनी सार्थक हुई ? दो वातें हैं। एक यह कि हम कहेंगे कि वह वेकार गई। दूसरी यह कि वह वेकार नहीं

गई। जितनी दूर का मार्ग जान लिया है, उतना तय करने में आगे देर नहीं लगेगी। दुर्गम मार्ग जिसे जाना नहीं होता, उस पर एक कदम बढ़ाना/चलना भी कठिन होता है। परन्तु जाने हुए मार्ग पर 100 कदम भी चल लें तो वह कठिन नहीं लगता। जो रोज लाल भवन आते हैं, उनसे पूछें तो कहेंगे- "ये तो यहीं हैं।" नये को दूर लगेगा, क्योंकि उनके लिये मार्ग अपरिचित है। अपरिचित मार्ग पर बढ़ने पर व्यक्ति को अटपटापन लगता है। मन में बार-बार विचार बनता है कि मैं कहीं गलत मार्ग पर तो नहीं आ गया ? कहीं भटक तो नहीं गया हूँ ? इसलिए गति रफ्तार से नहीं होती। परन्तु जिनका मार्ग देखा हुआ होता है उसे बार-बार रुककर पूछना नहीं पड़ता, वह धड़ल्ले से चलता जाता है। चाहे गाड़ी पर हो या पैदल। मार्ग ड्राइवर का जाना हुआ है तो तेजगति से गाड़ी ले जाएगा, पर जिसका जाना हुआ नहीं है वह धीरे-धीरे रुक-रुककर गाड़ी बढ़ायेगा।

दो-चार दिन पहले कुछ भाई आये और बोले कि हम निकले तो जल्दी पहुँचने का लक्ष्य रख कर थे, पर दूसरी रोड़ पर भटक गये। 25 किमी. आगे जाने पर ज्ञात हुआ कि गलत मार्ग ले लिया था, इसलिए देर से पहुँच पाये हैं। यहाँ तो 25 किमी. पर संभल गये, पर ज्ञानी कहते हैं कि मनुष्य तन की योनि में थोड़ा-सा भी चूक गयें तो पूरा तन बेकार। एक बार चूक गये, फिसल गये, तो पता नहीं किस गर्त में, नरक-निगोद में, किन-किन योनियों में परिभ्रमण करते रहेंगे। पता नहीं चेतना में पुनः कब जागरण हो, मनुष्य गति फिर कब मिले, आगे मार्ग पर चलने के लिए। किन्तु तब तक इतनी देर हो चुकी हो सकती है कि यह मार्ग ओझल हो गया हो। इतना पुराना याद रह नहीं पाता है। सुबह क्या खाया, वह भी शाम को याद नहीं रहता है। जिसके साथ खट-पट हो वह तो फिर भी याद रख लें, पर आज से तीसरे दिन पहले क्या-क्या चीजें नाश्ते में खायीं थीं, याद नहीं रहता। द्रव्य की मर्यादा रखने वाले को तो सोचना पड़ता है कि इतने ही लगाने हैं। वह सावधानी भी रख लेता है, किन्तु यदि हम अनेक योनियों में, गतियों में चले गये तो यह मार्ग फिर नया हो जायेगा। अब तक कहाँ तक का राउंड लिया था, उसे भूल जाएंगे। पर यदि जाति स्मरण ज्ञान हो गया तो फिर जानकारी हो सकती है, तब संभव

है कि फिर चलने में तकलीफ न हो। कभी फिसल जाते हैं तो फिर संभल कर चलने की कोशिश करते हैं, परन्तु मंजिल पाने के लिए निरन्तर गति को कायम रखना पड़ता है।

मैं बता रहा था कि हम शांति की खोज के यात्री हैं, इसलिए अधिक सावधानी रखनी है। कभी शांति के क्षेत्र में प्रविष्ट भी हो जायें तो वहाँ अटपटापन लगता है। कभी हम उलझ भी जाते हैं। ऐसा होता भी है। जब व्यक्ति अर्न्तःध्यान में लीन होता है, तब कई बार लीनता के समय जो अनुभूति होती है, उससे वह विचलित हो जाता है। साहस नहीं कर पाता कि आगे बढ़े। ऐसे में यदि संतुलन बिगड़ जाये तो फिर क्या होगा ? हम वहाँ से रिटर्न हो जाएंगे। यही कारण है कि शांति के साम्राज्य पर हम अपना अधिकार जमा नहीं पाते हैं और शांति पूर्णतया मिल नहीं पाती है। इसलिए कवि हिदायत करते हैं कि शांति की मंजिल तय करने में जो सोपान बताये गये हैं, उन पर दृढ़ता से सावधानीपूर्वक बढ़ना। ये न हो कि एक सीढ़ी पर चढ़ें और फिर लौटने का मन हो जाये। यही भावना हमें पुनः नीचे खींच लाती है। गेंद आकाश में उछलती है, पर गुरुत्वाकर्षण ऐसा है कि उसे नीचे खींच लेता है। वह जमीन पर लौट आती है। जैसे गुरुत्वाकर्षण की शक्ति ऊपर उठी गेंद को नीचे खींच लेती है, वैसी ही हमारे अज्ञान, विषय-वासना के संस्कार, मोह का आकर्षण तथा अहंकार-ममकार के आकर्षण, जैसे ही हम कदम उठाने लगते हैं, अपनी ओर हमें आकर्षित कर लेते हैं। इसलिए गति जितनी तीव्र होनी चाहिये हो नहीं पाती। परिणामस्वरूप हम मंजिल प्राप्त कर नहीं पाते हैं। शांति की मंजिल के यात्री को भी हिदायतें दी गई हैं। उसे विविध सोपानों के प्रति सावधान किया गया है। कहा गया है कि देव ने जो तत्त्व कहा है, उस पर अविचल आस्था हो। दूसरा सोपान है (गुरु)। अतः गुरु का आश्रय लो, जिससे संबल मिलता रहे। संबल की आवश्यकता कहाँ तक होती है ? कई बार वृक्षारोपण किया जाता है। सुना गया है कि विदेश में पौधारोपण का कीर्तिमान स्थापित किया गया था। अब विचार कीजिये कि जब वृक्षारोपण करते हैं तो क्यों एक पतली टहनी ही लगाते हैं ? क्या वृक्षारोपण का उद्देश्य एक पौधे के रोपण मात्र से पूर्ण हो जाता है ? नहीं।

आँधी-तूफान में तहस-नहस न हो जाये, इसलिए लकड़ी गाड़कर सहारा भी दे दिया जाता है। लकड़ी इतनी मजबूत होती है कि आँधी से वह नहीं हिलती तो वह कलम टहनी भी टिकी रह जाती है। जब तक वह जड़ें न पकड़ ले तब तक उसे सहारे की, लकड़ी की आवश्यकता रहती है। फिर नहीं। वैसे ही जब तक हम शांति की खोज में कदम जमा न लें तब तक संबल की आवश्यकता होती है। वह संबल होता है-

**आगमधर गुरु समकिती, किरिया संवर सार रे.....।**

कितनी सुन्दर बात कही है। लकड़ी को जो गाड़ने वाले हैं वे पौधों की सुरक्षा के लिए गाड़ते हैं। यदि वह लकड़ी भी कमजोर मरियल-सड़ियल हो जो हवा का एक झौंका आये और वह गिर जाये तो उससे सहारा देने का कोई मायने नहीं। लकड़ी इतनी मजबूत हो कि चाहे कितनी तेज हवा-तूफान आये, वह गिरे नहीं। इसलिए कहा है- तुम्हारा जो संबल हो वह आगमधर हो, जो संवर से मनोबल की दृढ़ता वाला हो। उसका आत्मबल इतना विकसित हो जिसकी हम कल्पना नहीं कर सकें। यदि हमने क्रिया-संवर से साधने का प्रयत्न किया तो कोई कारण नहीं कि कोई भी तूफान हिला सके।

आंधी-तूफान में सावधानी रहे। जिसने परमार्थ त्याग दिया है, ऐसे का संसर्ग तुम्हें ढीला करेगा, शांति को छोड़ अशांति में ले जाएगा। वह व्यक्ति क्या करेगा, जो अपनी लौ बुझा चुका है और लौ बुझाकर अंधेरे की थाह लेना चाहता है कि देखूं तो सही अंधेरा कितना है। ऐसे व्यक्ति से बचाव करना। इसलिए कहा है- **वावण्ण कुदंसण वज्जणा** - खोटे तर्क से बचाव करना। जब तक मनोबल दृढ़ नहीं है, तब तक संबल आंधी-तूफान से बचाता है। जब जड़ मजबूत हो गई तो फिर हम स्वयं अपनी सुरक्षा कर सकते हैं। मंडूक श्रावक जैसे ने भी शास्त्रार्थ किये हैं। अन्यथा होता यह है कि कुछ ना आये तो भी अंधेरे में तीर मार दो। पर वह वहीं उलझा देता है। भगवान महावीर ने कहा- मंडूक ! तुमने कहा धर्मास्तिकाय को देखता नहीं, जानता हूँ। यह तुमने ठीक कहा। यदि वहाँ कह देता कि मैं देखता हूँ। सामने वाला देखे न देखे, मैं देखता हूँ तो भले तुम शास्त्रार्थ में विजय प्राप्त कर लेना, पर वह विजय तुम्हें उठाने

वाली नहीं, बल्कि गिराने वाली बनती। इसलिए कहा- व्यापनी और मुदर्शनी से बचाव करना, ये यात्रा में बाधक हैं। अनेक प्रकार के भीतर के संस्कार जागृत होंगे तो यात्रा में बाधक होंगे। जैसे पैर में गड़ा काँटा गति में अवरोध एवं मंदता लाता है, वैसे ही ये तत्व यात्रा मंद करेंगे। कभी-कभी ऐसी स्थिति भी होगी कि हम बढ़ने के बजाय पीछे लौटेंगे और जब परमार्थ का सेवन करते हुए स्वयं को मजबूत बना लिया तो फिर आंधी-तूफान कोई हिला नहीं पाएगा। अहर्नक की जड़ें कितनी गहरी थीं। देव कहता है- ''कह दे, मेरा धम झूठा है। मैंने अंगुली पर उठाया है जद्वज को, छोड़ा तो गिरकर टुकड़े-टुकड़े हो जायेगा। सारी सम्पत्ति स्वाहा हो जाएगी। साथ में रहे मनुष्यों की हानि होगी। सभी तैरना नहीं जानते। तेरे कारण इनका नाश होगा।'' क्या ये अहर्नक की हठधर्मिता नहीं थी ? नहीं, यह दृढ़धर्मिता थी। हम तत्त्व को जानकर हठधर्मिता लावे, आंधी -तूफान में जड़ें हिलें नहीं, मजबूती बरकरार रहें। हठधर्मिता में व्यक्ति टूटता है और जड़ें मजबूत नहीं रहती। जैसे सूखा ठूंठ होता है नीचे की जड़ें रस नहीं देती तो वह टूटता है, किन्तु जिसकी जड़ें मजबूत हैं, जिसे जड़ से रस मिलता है, वह आंधी-तूफान में डटा रहता है, पर आंधी -तूफान आते रहेंगे। यदि ये नहीं आयें तो जीवन का आनंद ही क्या लिया ? नदी बहती रहती है, शांत रहती है, परन्तु बारिश आती है तब उसमें भी बाढ़ आ जाती है। यदि तट मजबूत हैं तो पानी कितना ही उफान ले, वे तट पानी को बाहर नहीं जाने देते। यदि तट कच्ची मिट्टी के हैं, तो उन्हें तोड़कर पानी इतना फैलाव करेगा कि विप्लव मचा देगा, इसलिए तट की महिमा है। तट है- मन, वचन, काया। ये मजबूत हैं तो घबराने की आवश्यकता नहीं। इन तटों को संबल मिलेगा आध्यात्मिक साधना से। साधना से मन-वचन-काया को गोपन कर लिया तो उससे हमें दढ़धमिता प्राप्त होगी। इसलिए देव के कहने पर भी अहर्नक के मुँह से लब्ज नहीं निकले कि मेरी धर्मप्रज्ञप्ति खोटी है। आज का व्यक्ति सोचे कि कहना ही तो है, कह दो। पर यदि कह दिया तो हमारे मन-वचन क योगों में एक सुराख बन जायेगा। उस स्थिति में पानी का प्रवेश हो जाएगा। जब एक छिद्र है तो समय आने पर दूसरा छिद्र, फिर तीसरा छिद्र भी बनेगा। फिर वह नौका नहीं रहेगी, छलनी हो जाएगी। कोई सोचे छलनी में

बैठकर समुद्र पार कर लूं, तो नहीं कर पाएगा। ऐसे ही सोच लेना छिद्र वाले मन-वचन-काया रूपी छलनी में बैठकर संसार-समुद्र पार नहीं करते।

## अट्टे लोए परिजुण्णे.....।

कौन बोल रहा है ? आचारांग शास्त्र बोल रहा है। आर्त्तभाव में जगह-जगह छिद्र हो गये तो मन, वाणी और काया से बार-बार तोड़े गये वे नियम हमें मंजिल पर पहुँचा नहीं पाएंगे। यात्रा की तैयारी करनी है तो इतनी दृढ़ता धारण कर लो कि एक कदम भी रखो तो वह ऐसा हो कि फिर लौटे नहीं। ऐसा हो तो समझो कि हमने कुछ दूरी कम की है। ऐसा लक्ष्य बनाकर चलो।

भगवान महावीर भी निकल गये शांति की टोह में। हालाँकि वे अशांत नहीं थे, पर पूर्ण शांति को पाना था और जो अशांत थे। उन्हें समझाना था, इसलिए वे राजकुमार नहीं बने रहे, उन्होंने साधु जीवन स्वीकार कर लिया और जब सबसे पहला विहार कर कूर्मा ग्राम में पहुँचे तो एक वृक्ष के नीचे बैठकर वे ध्यान में निमग्न हो गये। उस समय एक ग्वाला उधर से निकल रहा था, उसके साथ बैल थे। महावीर के समीप बैल छोड़कर उसने कहा- "ध्यान रखना, भैय्या, मैं कार्य से लौटकर आ रहा हूँ।" यह कहकर वह चला गया। वापस लौटा तो बैल वहाँ नहीं थे। पूछा- "बैल कहाँ है ? किधर चले गये", पर वे बोले ही नहीं। उसने सोचा, इनके ध्यान में नहीं रहा होगा। काफी खोज की, पर मिले नहीं। लौटकर आया तो देखा बैल वहीं बैठकर जुगाली कर रहे थे। यह देख करके तो उसे क्रोध आ गया। उसने सोचा, ये दंभी है, ठग है। मेरे बैल छिपा दिये थे। सोचा था कि ये निकल जायेगा तो मैं ले जाऊँगा। ये तो ठीक है कि मैं लौटकर आ गया। इसे मजा चखाना चाहिये, ताकि फिर किसी के साथ ठगाई न करे। उसके हाथ में रस्सी थी, उसकी दो-तीन तहबना कर मारने के लिए तैयारी की, किन्तु कहते हैं मारने वाले से बचाने वाले के हाथ लंबे होते हैं, फिर भी हम मारने की तैयारी करते हैं या बचाने का प्रयत्न करते हैं। हम काम यही करते हैं कि किसी के नीचे की जमीन खोद दूं, वह गड्ढे में गिर जाये और उठ नहीं पाये। पर हम

यह नहीं सोचते कि वह गिरे न गिरे पर मैं तो गिर चुका। बिना गिरे ऐसी भावना कर ही नहीं सकता। ऐसी भावना रखने वाला मन को जर्जरित करता है, वह गिरता है तो संबल मिलना मुश्किल होता है। गति में अवरोध आता है। वह ग्वाला एक्शन लेकर तैयारी करता है, पर-

**जाको राखे साइयां, मार सके न कोय।**
**बाल न बांका कर सके, जो जग बैरी होय।।**

पुण्यवान के अनेक साधन होते हैं। उधर शकेन्द्र की भावना जगी कि भगवान महावीर की साधना का यह प्रथम पड़ाव है, देखूं तो सही भगवान प्रथम पड़ाव में कैसी साधना कर रहे हैं। जैसे ही उपयोग लगाया कि अरे ! ये क्या हो रहा है अकिंचन् ग्वाला, जिसकी कोई हैसियत नहीं, रस्सी लेकर मारने को उद्यत है। उसने दिव्य शक्ति से उठाया हाथ स्तंभित कर दिया। हाथ गिरे नहीं। ग्वाला यों का यों खड़ा रह गया। द्रुत गति से इन्द्र पहुँचे और वंदन-नमस्कार करके कहा- भगवान ! आपकी ये जीवनचर्या, साधना का मार्ग बड़ा बीहड़ है, संकटों-तूफानों से घिरा है, इसलिए आप मुझे आज्ञा करें, मैं सेवा में रहूँ। जब तक केवलज्ञान न हो सेवा में रहकर ऐसे उपसर्ग करने वाले आततायियों को मजा चखाता रहूं। उनसे रक्षा कर यत्किंचित् सेवा का लाभ लेता रहूँ। ग्वाले को कहा- पापी ! ये क्या कर रहा है। कान है या नहीं ? ये त्रिलोकीनाथ उत्तम संत महावीर है, जिन्होंने राज-पाट ठुकरा दिया। नंदीवर्धन सिंहासन पर बिठाने की तैयारी कर रहे थे, पर ये कहते हैं नहीं चाहिये। उत्कृष्ट परिणामों से साधना का मार्ग अपनाया, ये क्या वैल चुराएंगे। इनके दिव्य-भव्य शारीरिक संहनन को देखकर भी तूं सोच सकता था। तूं बोलकर गया, वैल गये या आये इन्हें कोई मतलब नहीं। भाग यहाँ से, नहीं तो मेरे जैसा दूसरा नहीं। फिर भगवान से निवेदन किया- आपको 12 वर्ष उपसर्ग होंगे तो मैं चरण सेवा में रहूँ। सेवा भी करूँगा, किन्तु जितने भी अरिहंत होते हैं वे साधना में सहायता लेते नहीं हैं। वे अपने पुरुषार्थ को जागृत करते हैं।

मैंने यह दृष्टान्त दिया है, यह स्पष्ट करने के लिये कि संवल की आवश्यकता तव पड़ती है, जव मनोवल कमजोर होता है। वह दृढ़ है तो

सहायता काम नहीं आती। उस स्थिति में सहायता की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। बंधुओं यह भी ध्यान रखें कि एक समय ऐसा आयेगा जहाँ सहयोगी काम नहीं आयेंगे। जितने भी अरिहंत हुए हैं, वे सहायता नहीं लेते। जो हुए हैं और भविष्य में जो होंगे, वे लेने की स्थिति में नहीं होगे, नहीं रहेंगे। अरिहंत कर्मक्षय की साधना करते हैं, इसलिए वे उपसर्ग परिषह को पहले आमंत्रण देते हैं कि वे आयें और उन्हें अवसर दें कि वे मन को मजबूत रख सकें, वाणी को संयमित रख सकें, तन को दृढ़ रख सकें और विचलित न हों। वे तो कर्मरज को झाड़कर आत्मा को निर्मल बनाये रखने का प्रमाण देते हैं। उन्हें दूसरों का सहयोग अपेक्षित नहीं होता।

बंधुओं ! भगवान महावीर के प्रथम पड़ाव में ही विकट परिस्थितियाँ बन गई थीं। आने वाले 12 वर्षों में तो विकटतर उपसर्ग आये तथापि भगवान ने कभी सहायता की आवश्यकता नहीं समझी।

बंधुओं ! उदाहरण तो अनेक दिये जा सकते हैं, परन्तु उनकी आवश्यकता नहीं हैं। आप स्वयं जानते हैं कि मन की दृढ़ता तथा अपनी क्षमता में विश्वास और आस्था कितनी बड़ी शक्ति होते हैं। इसीलिये कहा जाता है- 'मन के हारे हार है, मन के जीते जीत।' आत्मा को निर्मल रखें तो मनोबल बना रहता है। मन को निर्मल बनाये रखकर आत्मबल को विकसित करने का अवसर और संबल आगमधर गुरु ही प्रदान करते हैं। वे कमजोर पौधे के साथ लगाई गई उस दृढ़ मजबूत लकड़ी की तरह सहारा देते हैं, जो मन की दुर्बल अवस्था में संबल बनकर साधना के मार्ग पर साधक को बढ़ाते रहते हैं और शांति की मंजिल तक पहुँचा देते हैं।

मैंने प्रारंभ में यात्रा में सहायक पाथेय की बात कही थी। यह पाथेय भोजन सामग्री, जल, वस्त्र एवं अन्य साधनों के रूप में तो होता ही है, उन् हिदायतों के रूप में भी होता है जो कोई अनुभवी ज्ञानी, जानकार गाइड प्रदानकर यात्रा को सरल, सुखद एवं सफल बनाने में सहयोग करता है। लेकिन पाथेय का इस्तेमाल तो यात्री को ही करना होता है। यदि वह प्रारंभ से ही असमंजस की स्थिति में रहे, शंकाशील बना रहे, यात्रा के कष्टों एवं असुविधाओं की कल्पना से भयभीत बना रहे तो सारा

पाथेय बेकार हो जाता है। इसलिये प्रबल आत्मविश्वास, दृढ़ मनोबल, असीम उत्साह तथा कष्टों-बाधाओं, परीषहों-उपसर्गों को अविचलित रहकर सहन करने तथा उन पर विजय प्राप्त कर पाने की अपनी क्षमता व शक्ति में विश्वास होना भी आवश्यक है। यह सब प्राप्त होता है यदि मन निर्मल है, लक्ष्य स्पष्ट है, उसकी प्राप्ति की कामना अविचल है और अपने प्रयासों, शक्तियों और क्षमताओं पर जमी हुई धूल को हटा देता है तथा दृढ़धर्मिता का प्रकाश विकीर्ण कर हठधर्मिता पूर्ण आग्रहों से मुक्ति दिलाकर धर्म-पथ पर आरूढ़ कर देता है। यह पाथेय विपरीत परिस्थितियों में भी मन को संबल प्रदानकर अविचल शांति की प्राप्ति की दिशा में गति बनाये रखता है। इस प्रकार मन-वचन-काया के तट इतने मजबूत हो जाते हैं कि निराशा, हताशा, अशांति की कितनी ही भीषण बाढ़ आये वे टूटते नहीं। भगवान महावीर की उत्कृष्ट साधना का उदाहरण आपके सामने है। भगवान ने अपने अनुयायियों का मार्गदर्शन करने के लिये, उनमें दृढध र्मिता उत्पन्न करने के लिये, कठोरतम संयम-साधना आचरित आदर्श प्रस्तुत किया था। हम उनके अनुगामी, उनके त्याग-तप से प्रेरणा ग्रहण करें, उसका संबल लेकर लक्ष्य की ओर बढ़ें तो शांति की मंजिल की ओर हमारी यात्रा सफल होगी। हमारा परमसौभाग्य तो यह है कि पाथेय के रूप में विशाल आगम साहित्य, अरिहंत देवों के जीवन चरित्र के विवरण और उनकी वाणी तथा गुरुओं और आचार्यों का प्रत्यक्ष मार्गदर्शन हमें उपलब्ध है। तो बंधुओं दृढ़ मनोबल तथा इस पाथेय के साथ शांति की मंजिल की दिशा में यात्रा पर निकल पड़ें, तुम्हारी यात्रा सहज, निष्कंटक, सुखद एवं सफल होगी।

20.10.2000

❖ ❖ ❖

# 24. अनुभव की महिमा है न्यारी

**शांति जिन एक मुझ विनति।**

अवंचक गुरु का योग-संयोग प्राप्त होना अत्यन्त कठिन है। कवि आनन्दघनजी शांति के सोपानों का कथन करते हुए पहले सोपान के रूप में देव और उनकी वाणी पर आस्था की बात कहते हैं। उनका अभिप्राय है कि जो जिनेश्वर देवों ने कहा है वही सत्य है, ऐसा दृढ़ विश्वास हो। दूसरे सोपान में गुरु के सान्निध्य की आवश्यकता की बात कहते हैं। गुरु का योग अनेक बार जीवन में प्राप्त होता है, पर यथार्थ में अवंचक गुरु का योग दुर्लभ है। ठगोरों की कमी नहीं है। संसार में भी अनेक अवस्थाओं से गुरुओं को स्वीकार किया जाता है, पर आध्यात्मिक जगत् में विशेषण दिया है कि गुरु आगमधर हो, समकिती हो, उसकी क्रिया संवरयुक्त हो। अर्थात् क्रिया का जो परिणयन हो, क्रिया से जो प्राप्ति हो, वह संवर के रूप में होनी चाहिये। यदि संवर के रूप में नहीं है तो क्रिया संसार की वृद्धि करने वाली बन जाती है। एकमात्र संवर क्रिया तिराने वाली होती है, वही मुक्ति की ओर बढ़ाने वाली भी होती है। फिर बताया कि संप्रदायी होना चाहिये, जिसने योग्य गुरु का सान्निध्य प्राप्त किया है, आध्यात्मिक गुरु की अध्यात्म विद्या को प्राप्त किया है, यम-नियम, समिति-गुप्ति की सम्यक् आराधना की है और इनसे जीवन को अनुशासित किया है, वही अनुशासित जीवन जीता है और अनुशासित जीवन ही व्यक्ति को सही दिशाबोध दे सकता है। ऐसे ही गुरु का सान्निध्य प्राप्त करना चाहिये, क्योंकि जो चंचल-वृत्ति रहे, स्वयं अशांति में झूलता रहे, वह शांति का स्वरूप कैसे दिखा पाएगा, कैसे समझा पाएगा ? साथ ही यह भी कहा है कि गुरु अवंचक होना चाहिये और आगे कहा है-

**शुचि अनुभव आधार रे......।**

पवित्र होना चाहिये। शुचि का अर्थ शुद्धि भी लिया जाता है। भगवान महावीर कहते हैं-

**सोही उज्जुदभूयस्सं......।**

जहाँ शुद्धि होती है, वहीं धर्म का टिकाव होता है। इसलिए शुद्ध होना चाहिये, हृदय की पवित्रता होनी चाहिये, कषायों का अनुरंजन वहाँ नहीं हो। क्षण-क्षण में यदि कषाय की अवस्था बनती रहे तो वह चित्त कलुषित हो जाता है। एक कपड़े पर यदि बार-बार रंग/मैल चढ़ता रहे तो उस वस्त्र की धुलाई के बावजूद वह सफाई नहीं आ सकती, जो पहले थी। परन्तु मैल एक बार लग गया, परिस्थितिजन्य लग गया, पर साफ कर दिया गया, लंबे समय तक जमने नहीं दिया गया, तो वह मैल वस्त्र की धुलाई के क्षणों में साफ हो जावेगा। जिस दिन निरन्तर मैल की परतें जमती रहीं, उसे धोने में असुविधा होगी और धुलने पर भी प्रारंभ की वह स्वच्छता प्राप्त नहीं होगी। वैसे ही यदि गुरु के चित्त पर लंबे समय तक कषाय का आवरण बनता रहे तो उसका चित्त पूर्णतया स्वच्छ नहीं हो पायेगा। चाहे वह कितना ही ज्ञान-ध्यान का सामान जुटा ले, वह ज्ञान-ध्यान से पूर्ववत् शुद्ध हो नहीं सकता। इसलिए कहा- शुचि अर्थात् चित्त की शुद्धि होना अनिवार्य है। इसके साथ बतला दिया कि अनुभव का आधार भी होना चाहिये। केवल मस्तिष्क के धरातल पर ही नहीं जाने, उसमें प्रयोगात्मक ज्ञान भी हो।

एक डॉक्टर या एक वैज्ञानिक ने खूब अध्ययन किया, वैज्ञानिक ग्रंथों का अथवा एक इंजीनियर ने सैद्धान्तिक धरातल पर तो खूब अध्ययन किया, किन्तु प्रयोगात्मक रूप से एक तार भी जोड़ने का कार्य कभी नहीं किया, तो क्या वह व्यावहारिक जगत् में खरा उतर पाएगा ? केवल सैद्धान्तिक ज्ञान प्राप्त करने वाला डॉक्टर भी इलाज कर नहीं पाएगा। इसलिए सरकार डॉक्टर को केवल थ्योरी का अध्ययन नहीं करवाती, बल्कि बड़े डॉक्टर के अधीन रखकर प्रायोगिक ज्ञान भी प्राप्त करवाती है। कई बार आपने अनुभव किया होगा, बड़े डॉक्टर के इर्द-गिर्द दूसरे 4-5 डॉक्टर होते हैं। किसी के हृदय की जाँच हो तो पहले उनसे जाँच करवाई जाती है, फिर अनुभवी डॉक्टर जाँच करता है, फिर जाँचों का मिलान

किया जाता है। यदि अंतर आता है तो बड़ा डॉक्टर अमुक-अमुक रूप से विशेष प्रकार से पुनः जाँच कराने का निर्देश देता है। उसके पीछे भाव यही होता है कि प्रशिक्षण प्रायोगिक भी हो और वस्तुस्थिति की या रोग की उपयुक्त जाँच का अनुभव प्रदान किया जाये। इन्टर्नशिप की अवधि में इस प्रकार का प्रायोगिक ज्ञान प्राप्त हो जाने के बाद ही अध्ययन पूर्ण माना जाता है।

पुराने समय में आयुर्वेदिक वैद्य केवल नब्ज के आधार पर बीमारी का निर्धारण कर लेते थे। लोग सोचते थे इन्हें कौनसा ज्ञान हो गया और चमत्कृत हो जाते थे। वह एक प्रकार से संप्रदाय के रूप में परम्परा चल रही थी। एक वैद्य दूसरे वैद्य से नाड़ी का विज्ञान जानते रहते थे। धीरे-धीरे जब योग्य शिष्यों का अभाव हो गया तब नाड़ी विज्ञान के लुप्त होने की अवस्था बन गई। आज भी नाड़ी वैद्य हैं किन्तु कुशल वैद्यों से प्राप्त अनुभव वाले कितने मिलेंगे ? बहुत कम। क्या कारण है ? संप्रदाय परम्परा विछिन्न हो चुकी है। जब गुरु को योग्य शिष्य नहीं मिलता तो वह पूरा ज्ञान उड़ेल नहीं पाता। इस कारण वह ज्ञान उसी के साथ लुप्त हो जाता है।

आचार्य भद्रबाहु के पास अनेक संत अध्ययन करने के लिए पहुँचे। बहुत सारे संत चंचल वृत्ति के कारण पहले ही विचलित हो गये। बोले- गुरुदेव ! हमने कितना सीख लिया ? उत्तर मिला- अरे भला ! क्या सीखा ? अभी तुमने पाया ही क्या है ? अभी तो समुद्र की बूंद के बराबर भी नहीं सीखा है। तब समझ लीजिये कि ज्ञान की सीमा कितनी है।

पूज्य गुरुदेव कई बार फरमाते थे कि पंसेरी की दुकान पर सोंठ और हल्दी की गाठियाँ लेकर कोई बैठ जाये और सोचे कि मैं बहुत बड़ा व्यापारी बन गया तो जितनी हास्यास्पद यह बात होगी, उतनी ही हास्यास्पद आजकल ज्ञानियों की अवस्था बनती चली जा रही है। कुछ एक थोकड़े कंठस्थ होने पर या थोड़ा स्वाध्याय होने पर यह समझ लिया जाता है कि हमने बहुत कुछ अर्जित कर लिया, परन्तु इस प्रकार क्या उस ज्ञानसिंधु का सौंवा, हजारवाँ, करोड़वाँ अंश भी पाया जा सकता है ? जब भद्रबाहु स्थूलिभद्र को 10वें पूर्व की वाचनी दे रहे थे, तब सहसा उन्होंने

जो रूप प्रस्तुत किया, वह आँखें खोल देने वाला था। भद्रवाहु समझ गये कि अब पाचन शक्ति शेष नहीं है, आगे अधिक दिया तो पचा नहीं पाएगा। कई तो पहले ही चले गये थे, स्थूलिभद्र बाकी था। पर जब उन्होंने देख लिया था कि यह भी आगे के लिए उचित पात्र नहीं है, तव कहा- "अब हो गया, वत्स ! अब अवसर नहीं है।" स्थूलिभद्र ने भी गलती समझकर क्षमा माँग ली- "भगवन् ! मेरी गलती हो गई आप क्षमा करें।" किन्तु एक बार किसी व्यक्ति की पात्रता का ज्ञान हो जाये तो उसके जीवन का निर्णय हो जाता है। जैसे नाड़ी वैद्य नाड़ी से निर्णय कर लेते हैं, वैसे ही भद्रबाहु ने निर्णय कर लिया। फिर बहुत अनुनय करने पर मूल रूप में पिछले 4 पूर्व का ज्ञान तो दिया, पर अर्थ नहीं बताया। जैसे भद्रबाहु ने कह दिया, वैसे ही पूर्व-पूर्ववर्ती आचार्यों ने उत्तर-उत्तरवर्ती शिष्यों की पात्रता का अनुमान लगा लिया था, इसीलिये वे पूर्वों का ज्ञान दे नहीं पाये, उनके बर्तन में अपने बर्तन को पूर्णतया खाली नहीं कर पाये।

कहा जाता है कि गुरु का बर्तन जब शिष्य के बर्तन में उडेला जाता है तो स्थितियाँ समान नहीं होतीं। तब यदि एक तो घी से भरा घट हो, एक तेल से भरा घट हो और एक चने से भरा घट हो तो चने का पूरा घट खाली हो जाता है, परन्तु घी के घड़ों को कितना ही खाली करें, पर फिर भी कुछ बच ही जाता है। तेल के घड़े में भी लेप रह जाता है, पर चने का पात्र लेपरहित बन जाता है अर्थात् उनमें जितना ज्ञान है सारा का सारा उडेल दिया जा सकता है। घी के घड़े की भाँति यदि क्रिया है तो कितना ही ज्ञान गुरु के पास रह जाता है, वे दे नहीं पाते हैं। इसी कारण धीरे-धीरे अनेक प्रकार की विद्याएँ-साधनाएँ लुप्त हो गईं। शव्द-कलेवर रह गये पर भावनाएँ रह नहीं पाईं। भावनाएँ नहीं रह पाने से शव्द का उच्चारण जरूर करते हैं, पर प्रभाव नहीं पड़ता। कुछ दिन पहले मैंने उच्चारणा भी किया था-

## धुणे कम्म सरीरमं

बाहर के शरीर को हम वहुत धुनते हैं। औदारिक शरीर को धुन भी लिया, एक वार समाप्त भी कर दिया, किन्तु फिर दूसरे शरीर का निर्माण हो जायेगा। कर्म शरीर को धुन डाला तो फिर दूसरे शरीर का

निर्माण हो नहीं पाता। कर्म शरीर को धुनने की साधना पद्धति क्या है ? जब तक इन पद्धतियों का ज्ञान नहीं है, तब तक हम औदारिक शरीर को तपाते हैं, औदारिक को क्षीण करते हैं। पंचाग्नि तप वाले औदारिक को ही तपाते हैं और उस भव में उस शरीर को जीर्ण-शीर्ण करते हैं, किन्तु शरीर की परम्परा को नष्ट नहीं कर पाते। इसलिए कवि कहते हैं कि गुरु के अनुभव का आधार भी होना चाहिये। यदि प्रयोगात्मक रूप नहीं है तो वहाँ भी गाड़ी बढ़ा पाना कठिन हो जाता है।

निश्चय-व्यवहार, द्रव्य-पर्याय, ये सारी बातें क्या है ? यदि यथार्थ बोध न हो तो हम कभी निश्चय में उलझकर रह जाते हैं। यदि इन सबकी अनुभवपरक अवस्था नहीं बन पाती तो ये भ्रमित करने वाली बन जाती हैं। अभी भी आपको लग रहा है कि ये निश्चय-व्यवहार क्या है ? क्या द्रव्य-पर्याय है ? अभी इतने व्यक्ति बैठे हैं आप देख रहे हैं, पर किसे देख रहे हैं ? द्रव्य को या पर्याय को ? आपके लिये बताना कठिन हो सकता है। तब सोचिये क्या निश्चित रूप से द्रव्य को देख रहे हैं। परन्तु क्या है द्रव्य का रूप ? इसलिए मैंने कहा- ये उलझन की बातें बन जाएंगी। हम पर्यायों को देखते हैं द्रव्य को देख लिया फिर रहेगा क्या ? हम आकार-प्रकार देख रहे हैं। जिस समय द्रव्य पर दृष्टि अटल हो जाएगी, फिर स्थितियाँ कुछ और ही बनेंगी। अधिकांशतया हम पर्याय को देखने के आदी रहते हैं, इसलिए एक-एक धर्म में उलझ जाते हैं। कवि कहते हैं- मूल कारण को दूर करना आवश्यक है। कुछ ज्ञान कर लिया तो उसे ही पकड़ लेते हैं, अहं के कारण और सोचते हैं बहुत कुछ कर लिया। किन्तु अभी तक हमने क्या किया है ? कुछ किया हो तो आगे की खोज बनती है। तीर्थंकर पहले खोज करते हैं, पहले उपदेश नहीं देते। अधिकांशतया पहले खोज करते हैं और केवलज्ञान के द्वारा सम्पूर्ण द्रव्य-पर्याय को जान लेते हैं, फिर देशना देते हैं। इसलिए वे अनुभव आध ार है, क्योंकि उन्हीं के दिये उपदेश के आधार पर द्रव्य-पर्याय का वर्णन कर सकते हैं, गति कर सकते हैं। अन्यथा मार्ग कहाँ रहेगा ? हमारी खोज के लिए कोई जरिया-साधन नहीं रहेगा।

ज्ञान प्राप्ति और शांति की प्राप्ति की बात भी इस संदर्भ में

अपेक्षित है। ज्ञान प्राप्त है, किन्तु ज्ञान यदि एकांगी हो जाये तो शांति देने वाला नहीं बनेगा, परन्तु ज्ञान यदि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से मंजा हुआ हो और अनुभव का उसमें पुट हो तो वह ज्ञान शांति देने वाला, अशांति का निवारक होगा, तभी हम अशांति के कारण जान पाएंगे। जब तक कारण न जान पायें तब तक अशांति का निवारण हमारे वश की बात नहीं रहेगी। इसलिये ज्ञान अनुभवपरक होना चाहिये।

भगवान महावीर ने इसी वृत्ति का आदर्श प्रस्तुत किया है। जब वे साधना के मार्ग पर अग्रसर हो चुके थे, तब इन्द्र ने निवेदन किया- "मैं सेवा में रहूँ ?" इस पर भगवान ने उत्तर दिया- "णो इणट्ठे समट्ठे"। खोज मुझे करनी है, अशांति के कारण मुझे जानने हैं। मैं तुम पर अवलंबित हो गया तो फिर अशांति के कारण जान नहीं पाऊँगा।

बंधुओं, यही तप की बात आती है। भगवान ने कितना कठोर तप किया, यह आप सब जानते हैं, तब आप यह भी समझ सकते हैं कि तप अनुभव को माँजता है, उसे चमकाता है और वास्तविक ज्ञान का आधार भी बनता है। एक कहावत भी है- "अपने मरे बिना स्वर्ग नहीं मिलता" अर्थात् सत्य का अनुभव करने के लिये तो स्वयं को ही प्रयास करने पड़ेंगे, दूसरे के प्रयासों से अपना प्रयोजन सिद्ध नहीं हो पायेगा। इसी प्रकार शांति का अनुभव भी अपने स्वयं के चित्त में शांति उत्पन्न होने से ही हो पायेगा और तभी अशांति के कारणों की विवेचना और उनके निवारण के मार्गों की अनुभूति भी हो सकेगी।

मैंने पूर्व में चिकित्सा विज्ञान का अध्ययन करने वाले छात्रों को दिये जाने वाले प्रायोगिक ज्ञान के स्वरूप की भी बात कही थी। उसे वहाँ 'हाउस जॉब' कहते हैं। 'हाउस जॉब' क्या होता है ? क्यों होता है और उसका प्रावधान क्यों किया जाता है, यह आप समझ सकते हैं। किसी भी विद्या या ज्ञान की पूर्णता के लिये प्रायोगिक अनुभव आवश्यक है। 'अप्रेन्टिसशिप' अथवा प्रशिक्षु काल की व्यवस्था इसीलिये सभी कलाओं की शिक्षा में रहती है। अगर आप तैरना सीखना चाहते हैं या साईकल चलाना भी सीखना चाहते हैं तो पुस्तकों द्वारा सैद्धान्तिक ज्ञान प्राप्त कर आप वह सीख नहीं सकते। आपको पानी में उतरना ही पड़ेगा, आपको

ही साईकल पर बैठकर गिरने-पड़ने का जोखिम उठाना पड़ेगा। पुस्तकें पढ़कर या प्रशिक्षक के उद्‌बोधनों, प्रदर्शनों से प्राप्त होने वाला ज्ञान कभी पूर्ण नहीं हो सकता। इसी प्रकार यदि शांति की प्राप्ति की विधि या मार्ग बताना चाहते हैं तो आपको उस विधि का व्यक्तिगत अनुभव या उस मार्ग पर चलने का व्यक्तिगत अनुभव होना भी अपेक्षित है, क्योंकि तभी आप अशान्तिकारक तत्त्वों के उन्मूलन या उनके बीच शान्ति स्थापित करने की विधि या उनसे बच निकलने के तरीके जान चुके होंगे। तब यह प्रमाणित हो जाता है कि अनुभव ही सत्य है, वही वह पात्रता या क्षमता और अधिकार प्रदान करता है कि व्यक्ति अपनी बात बलपूर्वक, प्रभावशाली ढंग से और विश्वसनीय ढंग से कह पाये। भगवान ने ऐसा ही किया था, उन्होंने मन और तन को साधा था। भीषण परीषहों और उपसर्गों के बीच साधा था। उनके सम्मुख शब्द, रस, गंध, रूप और स्पर्श के रूप में प्रबल आकर्षण आये, परन्तु वे सभी से अप्रभावित बने, अपने तप के मार्ग पर अविचल चलते रहे। अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों का जो इस प्रकार समभाव से, बिना उद्वेलित हुए सामना कर सकता है, वही असीम शान्ति प्राप्त कर सकता है। ऐसी क्षमा उत्पन्न करने की दिशा में बढ़ने का प्रयत्न करना चाहिये। आगम ग्रन्थ, अरिहंतों की वाणी तथा गुरुओं के उपदेश इसमें सहायता कर सकते हैं, करते भी हैं, परन्तु अनुसरण तो स्वयं को ही करना होता है, मनोबल स्वयं को ही निर्मित करना होता है और निरपेक्ष भाव भी स्वयं को ही विकसित करना होता है। आनंदघनजी ने शांति के जिन सोपानों का कथन किया है, उन पर आस्था रखकर हम उन सोपानों पर निर्मल मति और दृढ़ मनोबल से आरोहण करने का प्रयास करें। शान्ति की मंजिल प्राप्त करने का यही एक मार्ग है।

21.10.2000

❖ ❖ ❖

# 25. शुद्ध आलंबन आदरें !

शांति के स्वरूप की विवेचना करते हुए कवि आनंदघनजी ने बतलाया है कि देव-गुरु का सान्निध्य भी उसकी प्राप्ति का एक सोपान है, किन्तु देव-गुरु का सान्निध्य प्राप्त करने मात्र से शांति प्राप्त हो जाये ऐसा नहीं है। कई लोग कहते हैं हमने तो गुरु को स्वीकार कर लिया, अब वही तारेगा, वही उबारेगा, परन्तु यह बात भली प्रकार से समझ लें कि केवल गुरु को स्वीकार करने से कल्याण नहीं होगा। यदि उनके बताये मार्ग पर न चले तो कल्याण नहीं होगा। इसलिए आगे कहा गया है-

**शुद्ध आलंबन आदरे !**

बड़ी महत्त्वपूर्ण बात है- "शुद्ध आलंबन आदरे !" सार की बात है यह, इसलिये इसे समझें।

हमारी धार्मिक साधना का आकार क्या होना चाहिये ? हमारा समर्पण, श्रद्धा और दृढ़ता धर्म में पूरी आस्था का आलंबन लेना होता है, दुर्बलता या कमजोरी के कारण हाथ में लकड़ी का सहारा लिया जाता है। जवानी में व्यक्ति का शरीर पुष्ट होता है, सम्बल होता है, इसलिये व्यक्ति लकड़ी का सहारा नहीं लेता, परन्तु यदि वह रुग्ण है, शरीर में ताकत नहीं है, तो लकड़ी का सहारा हाथ में लेता है। कहीं हड्डी फेक्चर हो जाये, पट्टा चढ़ा हो, दो-तीन महीने बिस्तर पर पड़ा रहना पड़ा हो, उसके बाद घूमता है तो किसके सहारे ? लकड़ी के सहारे, परन्तु जब पूर्ण स्वस्थ हो जाता है, पैरों में ताकत आ जाती है, क्या फिर भी लकड़ी लेकर चलता है ? तब लकड़ी नहीं लेता है, छोड़ देता है। वैसे ही जब तक हमारी आत्मा में, हृदय में, साधना में दृढ़ता न हो। तब तक आश्रय लेना होता। यह आलंबन संघ का, स्वधर्मी का, धर्माचार्य का, 7 काय का, गाथापति का होता है। इस आलंवन के स्वरूप को समझना भी आवश्यक है।

आलंबन के स्वरूप के बारे में कहा गया है- 'शुद्ध आलंबन आदरे।' इस संबंध में दो बातें ध्यान में लेना आवश्यक है। प्रथम आलंबन शुद्ध होना, दूसरा स्वीकार का रूप भी शुद्ध हो। आलंबन शुद्ध हो, पर ग्रहण का तरीका शुद्ध न हो अथवा देव-गुरु शुद्ध हैं, पर ग्रहण विधि शुद्ध नहीं है तो वह शुद्ध आलंबन नहीं माना जाएगा। यदि हम देखें कि ये संत तपस्वी-चमत्कारी हैं, इनके नाम में चमत्कार है, संकट में नाम लें तो उबर जाते हैं, गरीबी में नाम लें तो अमीर हो जाते हैं, इसलिये ध न-सम्पत्ति की कामना से उनका आलंबन स्वीकार करें, तो आलंबन स्वीकार करने की विधि शुद्ध नहीं है। आलंबन लेना है तो वह तो शुद्ध होना ही चाहिये, ग्रहण की विधि भी शुद्ध होनी चाहिये। इसे यों समझें-

(1) आलंबन शुद्ध, विधि अशुद्ध।

(2) आलंबन अशुद्ध, विधि शुद्ध।

(3) आलंबन शुद्ध, विधि शुद्ध।

(4) आलंबन अशुद्ध, विधि अशुद्ध।

**प्रथम, आलंबन शुद्ध**- देव गुरु-धर्म शुद्ध हैं, किन्तु ग्रहण करने के पीछे यदि लोकेषणा है या आकांक्षा पूर्ति के भाव हैं तो वह विधि शुद्ध नहीं है।

**द्वितीय, आलंबन अशुद्ध**- विधि शुद्ध है, किन्तु आलम्बन शुद्ध नहीं है। विधि से तात्पर्य है देव-गुरु-धर्म को अपनाने की विधि। शुद्ध आत्मभाव से कर्मनिर्जरा का हेतु मानते हुए यदि आलंबन लें तो वह विधि शुद्ध है, क्योंकि उसके पीछे ज्ञान-दर्शन-चारित्र का हेतु रहता है। भगवान महावीर ने साधुओं के लिए कहा है- चलने से भी विराधना होती है, बैठने में भी कर्मबंध होता है, इसीलिये बताया है-

### कहं चरे - कैसे चलें ?

कहा- ईर्यासमितिपूर्वक। पर उसकी शर्त है, ज्ञान-दर्शन-चारित्र का आलंबन हो। इनका कारण ही तो गमन करना है। यदि ज्ञान-दर्शन-चारित्र का कारण नहीं है तो इधर से उधर घूमना-चलना कतई उपयुक्त नहीं है।

वैसे ही यहाँ विधि में ज्ञान-दर्शन-चारित्र की प्रमुखता रही हुई है। उस विधि से स्वीकार किया तो विधि शुद्ध है, किन्तु आलंबन के संबंध में तीर्थंकर देवों ने चेतना की आराधना का संकेत किया है। नवकार महामंत्र 'णमो अरिहंताणं' आदि 5 पद हैं। इनमें से चेतन पद कितने हैं ? सभी चैतन्य है। इसलिए चेतना के लिए भगवान ने बताया-

**एसो पंच णमोक्कारो, सव्व पाव पणासणो**

पाँच की आराधना से सभी पापों का नाश होता है।

अब हम चेतना को भूल जायें। चलो गुरुदेव नहीं है, पता नहीं, कहाँ विचरण कर रहे हैं, पर दर्शन करने हैं तो उनकी मूर्ति या फोटो रख लें और रोज दर्शन कर लें। तो ऐसा आलंबन शुद्ध है, परन्तु पता नहीं हम वह जान रहे हैं या नहीं ? कितने ही लोगों ने अपने घरों में फोटो लगा रखे हैं। कोई गले में पहनता है, कोई पॉकेट में रखता है। यदि उसे गुरु मानते हैं तो ये भाव है कि गुरु मेरे पॉकेट में है, जैसे चाहूँ वैसे चलाऊँ। गुरु रूप मानते होते तो वैसा नहीं करते। कई भाई अपने पर्स में फोटो रखते हैं। पता नहीं ये फोटो का रिवाज और जड़ के प्रति लगाव इतना क्यों बढ़ने लगा है ? ऐसा आलंबन शुद्ध नहीं है, अतः इससे तो शांति नहीं मिल सकती।

**तृतीय, आलंबन शुद्ध, विधि शुद्ध-** आलंबन है देव, गुरु का। वे शुद्ध हैं और आलंबन ग्रहण करने की विधि तथा आराधना विधि भी शुद्ध है। वंदना-उपासना की विधि क्या है ? शास्त्रकारों ने बतलाया है- सचित्त का त्याग, अचित्त का विवेक, उत्तरांसा धारण, दृष्टि, वंदन और फिर बताया- मन-वचन-काया की एकाकारतापूर्वक पर्युपासना करना। ये विधि है। यदि इस विधि से उपासना होती है तो आलंबन व ग्रहण विधि शुद्ध है। दोनों शुद्धताएँ यदि कायम हैं तो ही शांति प्राप्त हो पाएगी। अन्यथा थोड़े समय के लिए शांति का अहसास कर सकते हैं, पर यथार्थ में शांति मिल नहीं पाएगी। बल्कि थोड़ी देर के लिए भ्रांति देने वाली वनेगी। जैसे मरुभूमि का क्षेत्र है, जेठ का महीना हो, खूब बादली आ जाये तो लगेगा छाया हो गई, पर वह कितनी देर ? वह तो थोड़ी देर में

ही हिलने वाली है, बादली से सूर्य निकला नहीं कि धूप पड़ने वाली है। उस छाया को छाया मानकर सोचें कि विश्राम कर लूं तो विश्राम मिलेगा ? नहीं, वह शांति से सो नहीं पाएगा। कभी थोड़ी देर शांति प्राप्त कर ले तो वह आभास मात्र है। हम चिन्तन जरूर करते हैं, किन्तु चिन्तन करते हुए भी शुद्ध आलंबन का परीक्षण कर नहीं पाते। यदि परीक्षण नहीं होता है तो गाड़ी गति नहीं कर पाती है। गुरु तो ड्राइवर रूप है, गाड़ी आलंबन है। आप गाड़ी पर बैठोगे, पर गाड़ी सही नहीं है, कलपुर्जे ठीक नहीं हैं, तो चल नहीं पाएगी। इसलिए गुरु की शुद्धि के साथ आलंबन की शुद्धि का संकेत कवि देते हैं। तभी तो हम कहते हैं- आलंबन की आवश्यकता है, किन्तु जब आत्मा बलवान हो जाये तो आलंबन की आवश्यकता रहेगी नहीं। जैसे भगवान महावीर के विषय में सुना, उपसर्ग होने पर इन्द्र उपस्थित हुआ और कहा कि मेरी सेवा स्वीकार करो तो भगवान ने कहा- आलंबन ग्राह्य नहीं है। कोई भी तीर्थंकर ऐसा आलंबन लेते नहीं है। क्या भगवान् ने संघ का आलंबन लिया ? आवश्यकता ही नहीं पड़ी। धर्माचार्य का आलंबन भी नहीं लिया, किन्तु दीक्षा लेते हुए सिद्ध का अवलंबन लिया। 'णमो सिद्धाणं'। एक प्रकार से सिद्ध का आलंबन लिया। दूसरे शब्दों में कहूँ ये उनका लक्ष्य निर्धारण हुआ कि मैं इनकी खोज के लिए क्रिया कर रहा हूँ। जैसी क्रिया में लगना था वैसा लक्ष्य बना लिया। सिद्धों का जो स्वरूप है, वैसा मेरा है। मैं उनकी खोज करूँ ताकि वह मेरे सिद्धत्व को प्रकट कर सके। जैसे यदि कहीं जमीन में लोहे की कील गड़ी हो और शक्तिशाली चुंबक निकट हो तो वह उसे खींच लेगा या नहीं ? आज जो मैटल डिटेक्टर होते हैं वे बता देते हैं कि कहाँ मैटल अर्थात् धातु है। वैसे ही जमीन में गड़ा धन यंत्र से जाना जा सकता है। उससे तो जाना जा सकता है, किन्तु चुम्बक से तो निकाला भी जा सकता है। शायद मैंने बताया भी था कि श्री हरिसिंहजी रांका, जिनका जयपुर में मकान है। उनके पोते के कान में एक छोटी लोहे की गोली चली गई। डॉक्टर को दिखाया। उसने कहा- ऑपरेशन करना पड़ेगा। दवा दी एक-दो दिन बाद का समय दिया होगा। संयोग ऐसा बना कि गाड़ी के ड्राइवर के पास चाबी का गुच्छा था, उसमें चुम्बक था, उसने उसे

कान से लगाया तो कान में रही लोहे की गोली बाहर आ गई। जो काम डॉक्टरों से नहीं हो सका, वह उसने कर लिया। जैसे चुम्बक लोहे को खींचता है, वैसे ही यदि सिद्ध भगवान नाम को या उनके गुणों के स्मरण का लक्ष्य बनाया तो उसमें भी इतनी शक्ति है कि हमारे भीतर रहे सिद्धत्व को प्रकट कर दे। भगवान से पूछा गया-

**यव-थुइमंगलेण भंते ! जीवे विं जणयई**

अर्थात् स्तव-स्तुति मंगल से जीव को क्या प्राप्त होता है ? तो उत्तर मिला- ज्ञान-दर्शन-चारित्र की बोधि का लाभ मिलता है। कैसे मिलता है ? एक उदाहरण देता हूँ।

विमलजी ढढ्ढा कहने लगे- "पहले रोज भक्तामर का पाठ करता था, पर अर्थ पढ़ा तो पढ़ने का मन ही नहीं रहा। उसमें तो भगवान स्वयं सूर्य के समान हैं, चन्द्र के समान हैं, ऐसे की रट लगाने से क्या होगा ?" मैंने कहा- जैसे चुम्बक लोहे को खींचता है, वैसे ही तीर्थंकर देवों के गुणों की अपने अंदर कल्पना करके आलंबन आधार लें तो हमारे अंदर भी वे गुण आने लगते हैं। वे अपने स्वरूप का आभास कराने लगते हैं। सिद्धों में जो गुण हैं, वे हमारे भीतर भी हैं तो उनके गुणों का स्मरण हम में उन गुणों के करण में सहयोग बन जाता है। अतः हम जो भी आलंबन लें, उसके संबंध में अपने अंदर निर्णय करें कि वे शुद्ध हैं या नहीं ? बहुत से भाई जड़ आलंबन बना लेते हैं और ध्यान-साधना में लग जाते हैं। कभी कहते हैं कि पिंडस्थ ध्यान की बात भी कही है तो फिर क्या एतराज है ? लेना है, पर पिंड को किस रूप में लेना ? पिंड की कल्पना करें कि वह पिंड विनाशी है, वह रूप विनाशी है, क्योंकि सिद्ध के अवस्थान में वर्ण-गंध-रस-स्पर्श नहीं है। ये जो भी पिंड है, मेरा रूप है, ये भी औपचारिक है। यह यहीं छूटने वाला है। भगवान का आकार-प्रकार छूटने वाला नहीं है, इस रूप में पिंड का आधार लें। पर कोई सोचे, पिंड का रूप लेकर वंदन-नमस्कार करें, तो क्या वह आलंबन शुद्ध होगा ? फिर उससे क्या मिलेगा ? इसे समझने के लिए एक दृष्टांत देता हूँ।

एक पढ़ी-लिखी वहू से सासू ने कहा- "मंदिर चलो देव-दर्शन

होगा।'' बहू ने कहा- ''मैं नहीं जाती।'' पर आग्रह था तो जाना पड़ा। द्वार से कुछ दूरी पर खड़ी होकर बोली- ''मैं तो अंदर नहीं जाती। देखो, बड़े-बड़े हाथी हैं, सूंड से पकड़ लिया तो ?'' सासू ने सोचा- ये नासमझ है। कहा- ''ये तो सीमेंट के बने हैं, ये नहीं पकड़ते।'' बहू थोड़ा आगे बढ़ी और देखा- शेर है। तो वही रुक गई, ''मैं तो नहीं चलती''। ''अरी पगली, ये असली शेर थोड़ी है ?'' तो बहू कहने लगी- ''ये नकली शेर है तो न दहाड़ सकता है, न खा सकता है, न ही नकली हाथी कुछ कर सकता है, तो फिर किसी का आकार-प्रकार चाहे वह गुरु का हो या किसी का हो, वह क्या शांति देगा ?'' तत्त्व की बात आप समझ गये होंगे। इसलिए कवि ने सचोट बात कही है-

**शुद्ध आलंबन आदरे,**
**तजी अवर जंजाल रे....।**

शुद्ध आलंबन के अलावा सभी अवस्थाएँ जंजाल हैं, किन्तु कौन जाने, हम जंजाल में ही जी रहे हैं। रात्रि भी ख्वाब में पूरी हो जाती है। उन्हीं जंजालों में जिन्दगी का समय समाप्त कर देते हैं। कितने समय हम जंजालरहित जीते हैं ? चाहे धर्मस्थान में है तो भी जंजाल, मन में उधड़बुन चलती रहती है। अरे भला, अभी उसकी क्या आवश्यकता पड़ गई ? पर हमारे भीतर न जाने कैसे-कैसे जंजाल चलते रहते हैं। उन्हीं में कितना जीवन बसर हो जाता है। हमारे त्याग-नियम, व्रत-प्रत्याख्यान ये भी कैसे हैं, बताऊँ आपको ? तो समझिये।

कोई सरकारी महकमे में हो, भले चपरासी हो। चपरासी भी वर्दी पहनकर आता है तो अफसराना ठाठ लगाता है। कोई आये तो महकमे के वे सारे अफसर अफसरी दिखाते हैं, तब वे भूल जाते हैं कि हम भी गुलाम हैं। गुलामी छूटी नहीं है। अफसरी ठाठ माथे पर चढे हुए हैं और त्याग-नियम लेकर हम गौरव का भाव बनाते हैं। त्याग-नियम से जीवन विनीत होना चाहिये या गौरवपूर्ण कि मैं व्रतधारी हूँ, दस सामायिक करता है, ये गौरव का विषय यदि बना है तो हम गुलाम बने हुए हैं। जैसे- चपरासी, अफसरशाही में चलता है, वैसे ही हमारा भी रूप है, पर भीतर की गुलामी को हम देख नहीं पा रहे हैं। जब तक ये गुलामी बनी रहेगी,

तब तक व्रत-नियम का गौरव मनाते रहेंगे। आप गलत अर्थ मत लें, अर्थ लेने वाले अपने ढंग से लेते हैं। कैसे ? इस उदाहरण से समझिये।

एक डॉक्टर ने कहा- "मैं शराब के विरोध में प्रोग्राम देना चाहता हूँ। प्रोग्राम दिया। उसने एक साफ गिलास लिया, गिलास में स्वच्छ जल लिया, दूसरे गिलास में शराब डाली। एक केंचुआ लिया। उसे पानी के गिलास में डाला तो वह अच्छी तरह तैरता रहा, पर जब शराब के गिलास में डाला, तो उसके टुकड़े-टुकड़े हो गये। ये प्रयोग दिखाकर उसने पूछा- "आप क्या समझें ?" एक शराबी ने उत्तर दिया- "वस्तुतः शराब लाजवाब है। शराब पीने वाले के पेट में कीड़े नहीं पड़ सकते।"

वैसा ही अर्थ आप न लें। कहें कि महाराज ने बहुत अच्छी बात कही कि यदि इधर प्रत्याख्यान लें और उधर तोड़ दें तो लेना ही नहीं। मेरा यह कहना नही है कि व्रत-नियम लें ही नहीं। मेरा तो यह कहना है कि भीतर जो गुलामी भरी है उसे हटाने का प्रयत्न करो। गुलाम तो हम रहे हुए हैं। कोई एक रुपये का है तो भी गुलाम है, कोई लाख का है तो भी गुलाम है। कोई छोटा कोई बड़ा, परन्तु किसी न किसी रूप से सभी गुलाम हैं। मूल में मेरा कहना है कि उस गुलामी को दूर करो। हम गुलामी के आधार पर रौब डालते रहें, चपरासी होकर अफसरी दिखायें तो ये कैसा अफसराना ? जब आधार ही सही नहीं, फिर भी कामना करें कि शांति मिल जाये, तो कैसे मिल पाएगी ? इसलिए कवि कहते हैं- जंजालों को छोड़कर शुद्ध अवलंबन स्वीकार करो। यदि आलंबन शुद्ध है और शुद्ध विधि से ग्रहण किया है तो वह आत्मा को शांति प्रदान करने वाला होगा।

अशुद्ध आलंबन और अशुद्ध विधि की बात तो इतनी विवेचना के बाद आप स्वतः ही समझ गये होंगे, इसलिये पूर्व में कही जा चुकी शुद्ध आलंबन और शुद्ध विधि के विलोम का आपके सम्मुख कथन करने की आवश्यकता नहीं है, परन्तु आलंबन के स्वरूप और प्रकृति को स्पष्ट करने के लिये मैं कुछ दृष्टांत और दे रहा हूँ।

भगवान महावीर कोल्लरक सन्तिवेश पधार गये। उन्होंने कोई आलंबन लिया या नहीं ? भिक्षा ग्रहण की, शरीर टिकाने के लिए आहार

ग्रहण किया, वह भी अवलंबन था। 6 काय की नेश्राय आवश्यक है, उनके छोड़े हुए पुद्गल से आजीविका चलाते हैं। जीवों के द्वारा छोड़े शरीर काय में ले रहे हैं, इसलिए उनका भी उपकार है। किन्तु जब वह दृढ़ता आ जाये तब उपाधि सहायता का प्रत्याख्यान किया जा सकता है, किन्तु जब तक क्षमता न आ जाये तब तक इनकी भी आवश्यकता रहेगी। इनका अवलंबन लेकर शक्ति का संचय कर लिया जाये, वह हो जाये फिर संघ-गच्छ, इनकी भी आवश्यकता नहीं रहती है। पूर्वाचार्यों के ऐसे वर्णन सामने आते हैं जब वे देखते हैं कि समय नजदीक है, तब वे पद पर किसी को आसीन कर उससे निवेदन कर पहले धर्मस्थान में साधना करते हैं, फिर शून्य घरों में ध्यान की अनुज्ञा लेते हैं। जब वह सध जाती है तब श्मशान में ध्यान करने की आज्ञा, जिन्हें आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया है, उनसे लेकर वहाँ धर्म-साधना करते हैं। इन साधनाओं को जिन्होंने बराबर साध लिया वे फिर श्मशान में रात्रि-रात्रि भर ध्यान करके देख लेते हैं कि अब उनके भीतर भय की सिहरन भी पैदा नहीं हो रही है, तो वे महापुरुष संघ, गच्छ का त्याग कर देते हैं। वह त्याग कैसा ? आज्ञापूर्वक। जिन्हें आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया था, उनसे कहते हैं- ''मैं गच्छ बाह्य साधना करना चाहता हूँ'' और जिस समय वे रवाना होते हैं उस समय चतुर्विध संघ उन्हें पहुँचाने जाता है नगर के बाहर उद्यान तक, वहाँ सभा होती है। जो गच्छ निर्गत भावना के लिए उद्यत हैं वे उपदेश देते हैं - आचार्य तथा बड़ों के प्रति विनय संघ की व्यवस्था-व्यवस्थित रखनी होती है, इसलिये बड़ों को शिक्षा देते हैं कि ये (आचार्य) दीक्षा में छोटा है, पर आचार्य पद की गौरव गरिमा का ख्याल रखना तथा छोटों को विनय की शिक्षा देना तुम्हारा कर्त्तव्य है। छोटों को शिक्षा देते हैं कि तुमने जिस उत्साह-उमंग से दीक्षा ली है, उसे पार लगाने में उत्साह को मंद पड़ने मत देना। ऐसा उपदेश देने के बाद सबसे क्षमायाचना करते हैं और फिर कहते हैं- अब मैं विशिष्ट प्रतिज्ञा धारण करता हूँ। चाहे तो वे भिक्षु प्रतिमा धारण करके चल सकते हैं अथवा वे जिनकल्प भी स्वीकार कर सकते हैं। फिर वे पीछे मुड़कर नहीं देखते- ''चरैवेति-चरैवेति'' चल पड़ते हैं। अब संघ से कोई लगाव नहीं। निर्द्वंद आकाश में पक्षी की तरह

विहरण करते हैं। गच्छ-संघ की मर्यादा से कोई संबंध नहीं। अब उनकी अलग मर्यादा है। कोई आकर कहे मुझे दीक्षा दे दो तो वे नहीं देते हैं। दीक्षा देने में पाप नहीं है, पर उनकी मर्यादा होती है। इसलिए गच्छ निर्गत साधना करने वाले दीक्षा नहीं देते। हम भी शक्ति को इतना बढ़ायें कि धीरे-धीरे आलंबन छोड़ निरावलंबी बनकर मुक्ति का वरण करने की अवस्था में आ जायें।

शांति प्राप्ति की कामना जब अदम्य हो जाती है तब साधक किस सीमा तक बढ़ सकता है, इसका आदर्श भगवान महावीर की साधना है।

डांस मच्छर और शीत-उष्ण के घोर परिषह, कामातुराओं की भोगयाचना तथा अन्य प्रकार के परिषह उन्होंने सहन किये।

वैसी साधना, बिना दृढ़ मनोबल के हो नहीं सकती थी। उन्होंने ये संकल्प किया था कि गृहस्थी से सम्पर्क नहीं करूँगा, बातचीत भी नहीं करूँगा, क्योंकि उससे विषय-कषाय की वृद्धि की संभावना बनती है, इसलिए मौन रहूँगा। कोई प्रशंसा करता- कैसा साधक है ? कोई कहता औघड़ है, कोई कहता इससे मिलना क्या है ? ऐसे शब्दों में भी शांत। निन्दा, ताड़ना, तर्जना, प्रशंसा सभी के प्रति शांत भाव, क्योंकि वे समझते थे-

## शांत भाव सुखकार

उसी से सुख प्राप्त हो सकता है। उन सारे परिषहों को धैर्यपूर्वक सहन करना, कोई त्वरा नहीं। ये भी नहीं कि जल्दी कदम बढ़ा लूं। उन्हीं नपे-तुले कदमों से चलना। कहना-सुनना कितना सरल है, परन्तु अनुसरण कितना कठिन है। इसका मैं एक उदाहरण देता हूँ।

मैं निम्बाहेड़ा में था। एक बार का प्रसंग है। एक वकील साहब थे, प्रसिद्ध वकील। वैसे व्याख्यान में कम आते थे। पर उस समय प्रायः आते रहते थे। एक बार दया कर ली, रात को कहने लगे- "यों तो पार नहीं पड़ेगा। स्थानक के बाहर गिट्टी पड़ी है। स्थानक में आने से पूर्व गिट्टी पर चलना होता है। बिना चप्पल तो नहीं चल सकते। यहाँ तो इतने मच्छर हैं। बाकी तो सब ठीक है, पर एक दिन भी खुले पैर चलने में

कठिनाई महसूस होती है।'' श्रावकों की सामान्यतः ऐसी ही प्रकृति होती है, पर करने वाले करते हैं। शालिभद्र ने कब त्यागे ? धन्ना ने तो पैदल यात्रा भी की थी, पर शालिभद्र को तो सूर्य उदय-अस्त का भी पता नहीं। एक झटके में छोड़ दिया घर। ये नहीं सोचा कि माता का, पत्नी का क्या होगा, सम्पत्ति का क्या उपयोग होगा ? कोई मतलब ही नहीं रखा उन्होंने।

**जे ना चाले संधाते,**
**तेनी ममता स्यां माटे**

जो मेरे साथ चलने वाला नहीं, उसकी क्या ममता ? आज किससे ममता हो रही है ? जो साथ नहीं चलने वाला है, उसे सीने से बांध रहे हैं। ध्यान रखिये ! एक सुई भी साथ नहीं जायेगी, तो ये लंबा चौड़ा ताम-झाम किसलिये ? इसमें समय बरबाद करना कौनसी समझदारी का काम है ? जो टूटने वाला है, उस पर आसक्ति का भाव चित्त पर न जमायें। पड़ा है, पड़ा था, पड़ा रहेगा। शालिभद्र के चित्त पर पेटियाँ जमी हुई नहीं थीं कि मेरे रोज 33-33 उतर रही हैं। उस संपत्ति से कोई लगाव नहीं था। आपके भी घर में सम्पत्ति रहे तो आप जानें, पर चित्त पर आरूढ़ नहीं हो इतना समझ लें।

''अवर जंजाल'' तजना अत्यन्त आवश्यक है, परन्तु ये जंजाल आसानी से छूटते नहीं। मोह-माया का आकर्षण अत्यन्त प्रबल होता है, इसीलिये भव भोगने पड़ते हैं और अशांति में जीवन काटना पड़ता है। परन्तु यदि दृढ़ मनोबल हो तो कुछ भी असंभव नहीं है, कठिनाई यह है कि हम मन को दुर्बलता की ओर गति करने से रोक नहीं पाते। बंधुओं ! मन की दुर्बलता तो एक ऐसी ढलान है जिस पर यदि गति हो गई तो नीचे गिरते ही चले जायेंगे। तव नीचे की ओर गति इतनी तीव्र हो जायेगी कि ऊपर चढ़ना तो दूर, नीचे गिरने के वेग को रोक पाना भी कठिन हो जायेगा। इसलिये प्रयास यह बनाए रखना चाहिये कि ढलान वाले मार्ग पर पैर पड़े ही नहीं, पड़े भी तो नीचे की गहराई का ध्यान बना रहे और पैर जमा रहे। किंचित् दृढ़ मनोबल से भी इस प्रयास में सफलता मिल जायेगी, परन्तु यदि प्रारंभ में ही ढीले पड़ गये तो नीचे कहाँ तक पहुँच जायेंगे, यह बता पाना भी संभव नहीं है। अतः प्रारम्भ में ही सचेत रहें।

यह स्मरण रखें कि थोड़ा-सा मनोबल भी अदम्य मनोबल में परिवर्तित हो सकता है- आवश्यकता है उस प्रारंभिक थोड़े से मनोबल को जुटा लेने की। आप मेरा संकेत समझ गये होंगे। अभी से चेत जाएँ, जितनी जल्दी चेत जाएँ उतना अच्छा, क्योंकि मनोवृत्तियों का कोई भरोसा नहीं, वे कब किधर खींच ले जाएँ। इसलिये बिना समय खोये शांति प्राप्ति के मार्ग के अनुगामी बनने के लिये शुद्ध विधि अपनाये, तब शुद्ध आलंबन प्राप्त करना भी कठिन नहीं रहेगा। अतः आत्मा को जागृत रखें और मनोबल टूटने न दें - सिद्धियों का आप वरण कर सकेंगे।

22.10.2000

# श्री राम उवाच
# की प्रकाशित श्रृंखला